

टि. ४६४
११६४

संस्कृति के
भूत

6.2v

१०६९

हमीदाथ

११६४

कृपया इस ग्रन्थको निम्नांकित तिथि पर या उसके पूर्व
लौटा दें। विलम्बसे लौटानेपर ५ पैसे
प्रतिदिन दण्ड देना होगा।

हि ४५९

संस्कृति के भूत

नई दृष्टि और नये चिन्तन को स्फूर्त करने वाला निबन्ध-संग्रह



डा० इन्द्रचन्द्र शास्त्री,
एम. ए. पी. एच. डी.

प्रकाशक

सार्वभौम संस्कृति पीठ
दिल्ली-७

○ पुस्तक

संस्कृति के भूत

○ लेखक

डा० इन्द्रचन्द्र शास्त्री

○ प्रकाशक

सार्वभौम संस्कृति पीठ

१०/१७ शक्तिनगर दिल्ली-७

○ प्रथम संस्करण

जनवरी १९६७

○ मुद्रक

राज मुद्रणालय

प्रेम प्रिंटिंग प्रेस, आगरा

○ मूल्य

पाँच रुपये

हि ४५२

प्रकाशक की ओर से

प्रस्तुत पुस्तक डा० इन्द्रचन्द्र शास्त्री के छोटे-छोटे किन्तु मर्मस्पर्शी निबन्धों का संग्रह है। उनमें से कुछ पत्र पत्रिकाओं में प्रकाशित भी हो चुके हैं। पाठकों ने उन्हें पसन्द किया, उसी से पुस्तक रूप में प्रकाशित करने की प्रेरणा मिली।

इन निबन्धों में एक नई दृष्टि है और नई प्रेरणा। लेखक भारतीय संस्कृति तथा संस्कृत साहित्य के गम्भीर विद्वान् हैं। धर्म एवं दर्शन उनका प्रिय विषय है। उनकी लेखनी प्रचलित धारणाओं पर जो प्रहार करती है, उस नास्तिकता कह कर बदनाम करना प्रकाश से प्रकाश का विरोध करना है।

लेखक की दूसरी रचना 'आलोक और उन्माद' भी शीघ्र ही इसी ग्रंथमाला से प्रकाशित हो रही है।

मकर संक्रांति }
२०२३ सं० }

—मंत्री
सार्वभौम संस्कृति पीठ
दिल्ली

लेखक की बात

बंदरिया घाघरा पहनकर मदारी के सिखाये अनुसार नाच रही थी। गले में रस्सी और ऊपर डंडा तना हुआ था। उसने स्वतंत्र घूमने वाली बंदरिया को देखा और मन ही मन सिहर उठी। किंतु वह मन की बात छिपाना सीख चुकी थी, संभलकर बोली, "यह कितनी असम्य है, कपड़े तक पहनने नहीं आये। कितनी अभागन है, कोई गुरु नहीं मिला। कोई मर्यादा नहीं जानती। परलोक का भय भी नहीं है। उक्छू खल होकर इधर-उधर कूद रही है। कोई कला नहीं जानती।" इस प्रकार स्वाभाविक ईर्ष्या पर घृणा का पुट चढ़ा दिया। अतृप्ति की आग को सम्यता और संस्कृति की रेत ने ढक लिया।

यही दशा वर्तमान मानव की है। सम्यता का नाम लेकर उसकी स्वतंत्रता का अपहरण किया जा रहा है। उसे कहा जा रहा है शुद्ध हवा में साँस लेना छोड़ दे और तथाकथित महापुरुष के उच्छ्वास पर जीना सीखे। उसके जूठन को पवित्र माने और अमृत समझकर खा जाय। यदि ऐसा नहीं करता तो नरक में जाना होगा। धर्म-गुरु मदारी के समान नाच नचा रहे हैं और भक्त वर्ग बुद्धि, हृदय एवं शरीर सब कुछ उन्हें सौंपकर इतरा रहा है। जिन्होंने ऐसा नहीं किया उन्हें नास्तिक काफिर, मिथ्यात्वी आदि शब्दों में गालियाँ दे रहा है।

सामयिक आवश्यकता को लेकर एक तत्त्व अस्तित्व में आता है, आवश्यकता समाप्त हो जाती है किन्तु वह बना रहता है। उसके द्वारा हम अपनी अस्मिता का पोषण करने लगते हैं। इन्हीं तत्त्वों को 'संस्कृति के भूत' कहा गया है। ज्यों-ज्यों उनकी संख्या बढ़ती है, मानव दबता चला जाता है। प्राण सूख जाते हैं और निरा कंकाल रह जाता है।

धर्म, राजनीति, आदि प्रत्येक क्षेत्र इन कंकालों से भर गया है। कहीं राम, कृष्ण, बुद्ध, महावीर आदि धर्म-नेता भूत बनकर छाये हुए

हैं और कहीं लेनिन, स्तालिन, गाँधी, नेहरू आदि राष्ट्रीय नेता । वास्तव में देखा जाय तो सत्तारूढ़ शासक अथवा धर्मगुरु सर्वसाधारण को अपना अनुयायी बनाना चाहता है, उनका नहीं । इसके लिए उनके जीवन एवं उपदेशों की व्याख्या पर एकाधिपत्य कर लेता है । जो उस व्याख्या में सन्देह करता है उसे अपना सबसे बड़ा शत्रु मानता है और कठोरतम दंड देना चाहता है. साथ ही असली रूप में सामने आते हुए डर लगता है । अतः प्रवर्तक का चोगा पहन लेता है, उसी की शब्दावली में बोलता है और ऐसा आडम्बर करता है जिससे भक्तवर्ग उसकी पूजा को आदि-पुरुष की पूजा समझे । पद-पद पर उसकी दुहाई देकर अपनी बात मनाने का प्रयत्न करता है । भक्तवर्ग भी अपने को उनका अनुयायी कहकर गर्व का अनुभव करता है ।

अंधा खंडहर की दीवार के साथ लाठी लगाकर खड़ा है और चिल्ला रहा है कि मेरी लाठी पकड़ने वाला सबसे अच्छा है । महिने और वर्ष बीत जाते हैं, जहाँ खड़ा है वहीं रहता है; फिर भी कहता है कि मैं बढ़ रहा हूँ । खड़े-खड़े होने वाली थकावट को प्रगति की थकावट मानता है ।

उखड़ा पेड़ प्रवाह में बह रहा है और समझता है मैं प्रगति कर रहा हूँ । वह नहीं जानता कि प्रगति और प्रवाह में इतना ही अन्तर है जितना प्रकाश और अन्धकार में । प्रगति का अर्थ है स्वेच्छा-पूर्वक अपने पैरों पर खड़े होकर चलना । इस प्रकार खड़ा होना ही प्रगति है । स्वतन्त्रता उसका अनिवार्य तत्त्व है । इसके विपरीत प्रवाह का अर्थ है कि किसी बाह्य शक्ति की अधीनता । वहाँ व्यक्ति स्वयं नहीं चलता ।

हम भगवान का नाम लेते हैं और शंतान की पूजा करते हैं । अहिंसा की आड़ में हिंसा के समर्थक बने हुए हैं । अपरिग्रह का नाम लेकर परिग्रह के पथ पर चल रहे हैं । प्रस्तुत रचना मानवता के इन्हीं उपहासों का एक दिग्दर्शन है ।

६

जो व्यक्ति वर्तमान को अच्छा नहीं बना पाता वह अतीत के गुण-गान द्वारा अपने को तृप्त करता है। भारत का यह राष्ट्रीय चरित्र बन गया है। हमें प्रत्येक खंडहर में समुन्नत संस्कृति की झलक दिखाई देती हैं। प्रत्येक प्राचीन पुस्तक अत्यन्त महत्वपूर्ण जान पड़ती है। प्रत्येक परम्परा को अनुयायी ईश्वरीय वरदान मानते हैं। इस उन्माद में वर्तमान को भूल जाते हैं। यही भारत की मुख्य समस्या है।

पुस्तक छोटे-छोटे निबन्धों का संग्रह है। उनके पीछे न कोई योजना है और न कोई तरतीब। उठते-बैठते बहुत से विचार मन में आते रहते हैं और उनमें से कुछ कागज पर अंकित होकर स्थायी रूप ले लेते हैं।

वास्तव में देखा जाय तो ऐसे विचार ही हृदय के स्वाभाविक उच्छ्वास होते हैं। इसके विपरीत जब हम कुर्सी पर बैठकर यह सोचने लगते हैं कि किस वर्ग के लिए क्या लिखना है, कौसा लिखने पर अधिक लाभ होगा तो वे विचार प्रकाश न रहकर दुकानदारी बन जाते हैं। प्रत्येक भाषा की दुकानें इस प्रकार के माल से भरी हैं और खरीदने वाले घटते जा रहे हैं। कुम्हार ने मिट्टी के दिए बनाकर पटरिया भर दीं, किन्तु दीवाली न आयी। अब उन दिव्यों को प्रज्वलित करने की आवश्यकता है।

मृत्पात्र स्थायी हो सकता है। उसे संग्रहालय में रखा जा सकता है, किन्तु प्रज्वलित दीप अपनी प्रभा फैला कर बुझ जाता है। प्रत्येक जीवित तत्त्व की यही दशा होती है। लेखक नहीं चाहता कि उसकी कृति खंडहर बनकर भूत का काम करे। यही इच्छा है कि वह पथ आलोकित करके बुझ जाय।

—‘इन्द्र’

अनुक्रमणिका

संस्कृति के भूत

१—२८

- | | |
|---------------------------|----|
| १. संस्कृति के भूत | ३ |
| २. किसकी जय | ८ |
| ३. शव-पूजा | १५ |
| ४. विचारों के दो रूप | २१ |
| ५. सेठ, नेता, पंडित, साधु | २४ |

जीवन के उपहास

२९—७२

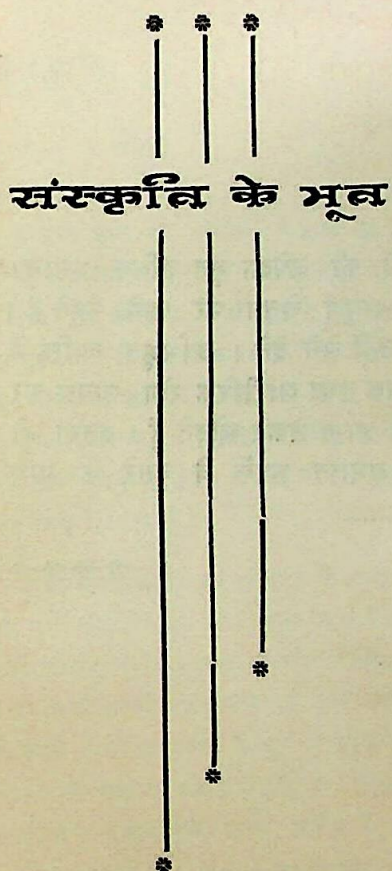
- | | |
|-----------------------------------|----|
| १. सांस्कृतिक प्रगति का प्रथम दिन | ३१ |
| २. हम किधर बह रहे हैं | ३७ |
| ३. बुद्धू और छाकटा | ४७ |
| ४. ये बिडंबनायें | ५० |
| ५. मूर्खता की परम्परा | ६० |
| ३. हाय रे मेरा जीवन बीता जाय | ६५ |
| ७. चार बालक : प्रतिक्रिया | ७० |

नग्न सत्य

७३—१५२

१. नास्तिक और अवतार	७५
२. अतिमानव की परम्परा	७७
३. आदर्श और अहङ्कार	८२
४. सिद्धान्तों का उन्माद	८५
५. धर्म और विज्ञान	८८
६. प्रतिष्ठा के आधार	९१
७. स्वस्थ और रोगी	९६
८. सत्य और शक्ति	९९
९. प्रचार के तीन रूप	१०३
१०. तीन प्रेरणाएँ	११०
११. श्रद्धा की तीन अवस्थाएँ	११६
१२. तीन अभिशाप	१२१
१३. त्यागी वर्ग और शक्ति	१२५
१४. संगठन और साधु-संस्था	१३१
१५. सिद्धान्त और आचार	१३६
१६. धर्म-संस्था के हेतु तत्त्व	१४२
१७. आस्तिक और नास्तिक	१४७





संस्कृति के मूल

जीवित व्यक्तियों की अपेक्षा भूत अधिक भयानक होते हैं, वे हमारी सम्पूर्ण चेतना पर छाये रहते हैं। उन्मुक्त होकर सांस नहीं लेने देते। अभिभूत व्यक्ति में तरह-तरह के मानसिक तथा शारीरिक रोग उत्पन्न कर देते हैं और अन्त में प्राण लेकर छोड़ते हैं। इतना ही नहीं एक का जीवन समाप्त करके वे दूसरे के साथ चिपक भी जाते हैं।.....

संस्कृति के भूत

| १

संस्कृति शब्द का अर्थ है, वे तत्व जो हमारे व्यक्तित्व का संस्कार करते हैं। आत्मा, बुद्धि, मन, वाणी तथा शरीर सभी व्यक्तित्व के अङ्ग हैं, सामाजिक व्यक्तित्व में धनसंपत्ति, प्रतिष्ठा आदि बातें भी आजाती हैं। संस्कार दो प्रकार के होते हैं। विध्यात्मक और निषेधात्मक। सुन्दर वेशभूषा, शारीरिक स्वास्थ्य, वाणी का प्रभावशाली होना, साहस, उदारता, विवेचनशक्ति, सूक्ष्म-निरीक्षण आदि विध्यात्मक संस्कार हैं। स्नान आदि क्रियाओं द्वारा शरीर, वाणी, मन आदि को निर्मल बनाना निषेधात्मक संस्कार हैं।

प्रायः समय बीतने पर संस्कार के रूप में स्वीकृत तत्व वास्तविक लक्ष्य को छोड़ देते हैं और अपने आप में जीवन का अङ्ग बन जाते हैं उनकी आत्मा लुप्त हो जाती है और निर्जीव शरीर रह जाता है। फिर भी हम उन्हें संस्कृति का अनिवार्य तत्व मानते रहते हैं। ऐसा लगता है जैसे उनके बिना असम्यक्ता के युग में पहुँच जायेंगे। व्यक्तित्व इन तत्वों के बन्धन में जितना जकड़ा रहता है उतना ही हम अपने को समुन्नत समझते हैं। तथाकथित उच्च, अतीत के साथ सम्बन्ध जोड़कर गौरव का अनुभव करते हैं। फलस्वरूप विकास रुक जाता है। चेतना अवरुद्ध हो जाती है। सङ्गठन एक निर्जीव ढाँचा रह जाता है। यहाँ इन्हीं तत्वों को संस्कृति के भूत कहा गया है।

इस शब्द का अर्थ है—वे बातें जो बीत चुकीं, जिनका उपयोग या जीवन समाप्त हो चुका । दूसरा अर्थ है प्रेत-आत्मायें । अर्थात् वे व्यक्ति जिनका मूर्त अस्तित्व नहीं रहा । जीवित व्यक्तियों की अपेक्षा भूत अधिक भयानक होते हैं । वे हमारी चेतना पर छाये रहते हैं । उन्मुक्त होकर साँस नहीं लेने देते । अभिभूत व्यक्ति में तरह-तरह के मानसिक तथा शारीरिक रोग उत्पन्न कर देते हैं और अन्त में प्राण लेकर छोड़ते हैं । इतना ही नहीं, एक का जीवन समाप्त करके वे दूसरे के साथ चिपक जाते हैं ।

व्यक्ति के समान संस्कृतियों के भी भूत होते हैं । और वे वैयक्तिक भूतों की अपेक्षा अधिक भयानक होते हैं । वे सामूहिक चेतना को अवरुद्ध किये रहते हैं । उनसे अभिभूत समाज नये प्रकाश को बुरी दृष्टि से देखता है । उसे मिथ्यात्व, नास्तिकता या समाजद्रोह कहकर दूर रखना चाहता है । इस पर भी जब वह नहीं रुकता तो अपनी आँखें बन्द कर लेता है । सन्तान तथा अनुयायियों को भी आँखें बन्द रखने की कड़ी आज्ञा देता है । खोलने पर दंड दिया जाता है । धर्म, समाज, राजनीति, विद्या आदि संस्कृति का प्रत्येक क्षेत्र इस प्रकार की आज्ञाओं और दंडों से भरा है । साथ ही यह भी उल्लेखनीय है कि प्रत्येक संस्था का जीवन उन क्रांतिकारियों का इतिहास है जो इन भूतों से नहीं डरे और साहस करके सामने खड़े हो गए । उन्होंने अंधकार का पर्दा फाड़कर प्रकाश का स्वागत किया । नेता के रूप में वे स्वयं प्रकाश बन गये । किन्तु धीरे-धीरे उनके भी चारों ओर अंधकार घनीभूत हो गया । अनुयायी वर्ग अन्धकार को भी उनके व्यक्तित्व का आवश्यक तत्व मानता चला गया । एक दिन प्रकाश बुझ गया और अन्धकार ही अन्धकार रह गया । प्रकाश के नाम से उस अन्धकार की पूजा होने लगी ।

धर्म के क्षेत्र में वे भूत वेशभूषा, क्रियाकांड, शुष्क-अनुष्ठान, अंध-विश्वास आदि के रूप में बुद्धि को घेरे रहते हैं । एक ऐसा वर्ग खड़ा

संस्कृति के भूत

५

हो जाता है जो अतीन्द्रिय तत्वों की दुहाई देकर परम्परा की रक्षा के लिए कहता है। शास्त्रों के पाठ को तोड़मरोड़ कर सच्चे-भूठे अर्थ करता रहता है और पद-पद पर उनकी दुहाई देता है। जो उनकी बात नहीं मानते, उन्हें बदनाम करता है। प्रत्येक धर्म में परम्परा का न मानने वालों के लिए गालियाँ बनी हुई हैं। मिथ्यात्वी, नास्तिक, काफिर, एथीस्ट आदि शब्द इसी प्रकार के हैं। इन भूतों की रक्षा के प्रयत्न में धर्म संगठन, मिथ्या प्रदर्शन तथा दंभ का घर बन जाता है। खान-पान, छुआछूत, तिलक, वेशभूषा तथा थोथी क्रियायें चर्चा का मुख्य विषय हो जाती हैं। उनके लिये अहिंसा, सत्य, ब्रह्मचर्य आदि सदाचार के मुख्य तत्व की उपेक्षा होने लगती है।

पुरोहित वर्ग तथा साधु-संस्था का इतिहास इन तथ्यों का साक्षी है। ब्राह्मण वर्ग आत्म-चित्तन को छोड़कर थोथे क्रियाकांड को महत्व देने लगा। यज्ञ में वेदों कितनी बड़ी होनी चाहिये? उसमें लगाई जाने वाली प्रत्येक ईंट कितनी लंबी, कितनी चौड़ी और कितनी मोटी होनी चाहिए? चम्मच का अगला भाग कितना बड़ा होना चाहिये और पिछला कितना? मंत्रपाठ करते समय किस अक्षर को जोर से बोलना चाहिये और किसे मंद स्वर से? यजमान और पुरोहित को कैसे कपड़े पहिनने चाहिये आदि बातें महत्वपूर्ण हो गईं। कहा जाने लगा कि इनमें तनिक-सा भी फर्क होने पर देवता नहीं आयेंगे और यज्ञ का फल नहीं मिलेगा।

जैन धर्म सैद्धान्तिक दृष्टि से ऐसी बातों को महत्व नहीं देता। वहाँ सिद्धों के १५ भेद बताये गये हैं, उनसे पता चलता है कि साधक स्त्री हो या पुरुष, जैन साधु के वेश में हो या अन्य किसी में। अपेक्षित जीवन शुद्धि होने पर मोक्ष प्राप्त कर सकता है। अनेकांतवाद प्रत्येक दृष्टि का समन्वय करने के लिए कहता है और एकांतवाद को मिथ्यात्व मानता है। जैन विद्वान तथा साधु दूसरों के सामने अपनी उदारता

दिखाने के लिए यही रूप उपस्थित करते हैं किन्तु अपने जीवन में उसे कहां तक अपनाते है यह विचारणीय है। जैन साधु-संस्था भी वेशभूषा तथा बाह्य क्रियाकांड को कम महत्व नहीं देती। मुख-वस्त्रिका कितनी लंबी चौड़ी होनी चाहिये, उसे मुँह पर बाँधे रखना चाहिये या हाथ में, रजोहरण की डंडी कितनी बड़ी होनी चाहिये, मूर्ति की पूजा करनी चाहिये या नहीं? यदि करनी चाहिये तो वह नग्न होनी चाहिए या सवस्त्र इत्यादि बातें चर्चा का विषय बनी हुई हैं और उनके पीछे आत्म-साधना की उपेक्षा होती जा रही है।

सामाजिक क्षेत्र में ये भूत रुढ़ियों के रूप में चिपके रहते हैं। कर्ण-धारों को भय लगा रहता है कि उन्हें छोड़ देने पर प्रतिष्ठा मिट्टी में मिल जायगी। समाज रसातल में चला जायगा। मृत्युभोज, छुआछूत, जातपात, नारी के प्रति हीन-भावना आदि इसी प्रकार के भूत हैं।

राजनीति में इन भूतों का प्रभाव समाज से भी अधिक भयङ्कर है। उपयोगिता न होने पर भी कमर में तलवार बाँधकर चलना, वर्षा या धूप न होने पर भी छत्र लगाये रहना, मविखयाँ न होने पर भी चंवर का घूमते रहना। हाथी, घोड़े, रथ आदि का मिथ्या प्रदर्शन, अहङ्कार-पूर्ण वेशभूषा आदि बातें अब भी राजघरानों को घेरे हुये है। सब से बड़ा भूत राष्ट्रीयता है, जिसके कारण एक व्यक्ति सीमा-विशेष के इस ओर बसे हुए—नागरिकों को अपना मित्र मानता है और उस ओर वालों को शत्रु। यह वृत्ति उस समय का संस्कार है जब मानव छोटे-छोटे कुलों में रहता था और वे आपस में लड़ते रहते थे। दो ग्राम या बस्तियों का सम्बन्ध, मित्रतापूर्ण नहीं होता था। 'संग्राम' शब्द का अर्थ है—दो ग्रामों का इकट्ठा होना, जो युद्ध के रूप में ही होता था। इसी प्रकार 'संकुल' शब्द का अर्थ है दो या अधिक कुलों का एकत्र होना जो सारी व्यवस्था को अस्त व्यस्त कर डालता था। अब भी मानव भौगोलिक, जातीय तथा साम्प्रदायिक परिधियों की थोथी अस्मिता को लिए हुए हैं।

संस्कृति के भूत

७

विद्या का क्षेत्र भी इन भूतों के प्रभाव से मुक्त नहीं है। विज्ञान अनुभवों के आधार पर प्रगति कर रहा है और नई-नई धारणायें बना रहा है। दूसरी ओर धर्म-संस्था पुरानी बातों को दुहरा रही है और नई धारणाओं को मिथ्यात्व कह रही है। यथाशक्ति यह प्रयत्न किया जाता है कि बालक उन बातों को न सीखे और पुरानी धारणाओं से चिपका रहे। तर्क या अपनी बुद्धि का वहीं तक उपयोग करे जहाँ तक वह परंपरागत विश्वासों का समर्थन करती हैं। जो जातियाँ तथा राष्ट्र इन मानसिक परिधियों को लाँघ गये, वे विश्व का नेतृत्व कर रही हैं। दूसरी ओर उन धारणाओं से चिपके रहने वाले केवल धर्म-स्थानों में बैठकर अपनी उत्कृष्टता की डींगें हाँक रहे हैं। प्रगतिशील विश्व में उनका कोई स्थान नहीं है। वे उन प्राणियों के समान हैं जो सूर्योदय होने पर किसी अंधेरी जगह में जा छिपते हैं।



“प्रत्येक धर्म में, उसकी परम्परा को न मानने वालों के लिए कुछ विशिष्ट प्रकार की गालियाँ बनी हुई हैं। मिथ्यात्वी, नास्तिक, काफिर, एथिष्ट आदि शब्द इसी प्रकार के हैं, जिनके द्वारा तथाकथित धार्मिक अपने मानसिक रोष उगलते रहते हैं।

किस की जय ?

| २

गंडासे की एक ही चोट से सिर कटकर अलग जा पड़ा और भीषण अट्टाहास के साथ वह चिल्लाया—“बोल महात्मा गांधी की जय !”

यह उन दिनों की बात है जब पंजाब में साम्प्रदायिक उन्माद छाया हुआ था। सदियों से पड़ोस में बसने वाले भाई-भाई एक दूसरे के खून के प्यासे बने हुए थे। न मनुष्य के प्राणों का मूल्य था न बहिनों के सतीत्व का। इनके रण में किसी प्रकार का पाप न रह गया था, बल्कि इसे धर्म की रक्षा समझा जा रहा। यह सब धर्म के नाम पर ही तो हो रहा था। निरीह बच्चों को मारकर, बहिनों की इज्जत लूटकर, सृष्टि की सर्वोत्तम देन को नष्ट कर धर्म की सेवा की जा रही थी। दूसरी ओर महात्मा गांधी इस उन्माद को दूर करने के लिए प्राणों की बाजी लगाये हुए थे।

मैं देहली जा रहा था। मालूम पड़ा कि सामने आने वाली गाड़ी में चौदह सौ यात्री अपना घर-बार छोड़कर जा रहे हैं। वे इसलिये नहीं जा रहे थे कि उन्हें वैराग्य हो गया था या धनोपार्जन का कोई आकर्षण था। लाखों व्यक्तियों के प्राणों और अबलाओं के सतीत्व की आहुति देकर उनके लिए एक धर्मराज्य बसाया गया था। उन्हें यह विश्वास हो गया था कि वहाँ जाने पर वे खुदा के बन्दे कहलाएंगे और यहाँ रहने पर शैतान। उन्हें यह मानूस नहीं था कि शैतान उन्हें बचकर जाने ही न देगा। आखिर देश के ये टुकड़े शैतान की ही तो करामात हैं, खुदा की नजरों में तो सभी एक हैं।

यात्री महेन्द्रगढ़ से बैठे थे । राजगढ़ तक के सभी स्टेशनों पर उनके आने की खबर लग गई थी । जगह-जगह पर तथाकथित धर्म रक्षकों के मोर्चे लगे हुए थे । वे नई बसी हुई खूदा की सल्तनत में पाक होने के लिए जाने वाले उन यात्रियों को यहीं समाप्त कर देना चाहते थे । समझ रहे थे उस मानवी रक्त से क्रूर हिंसावृत्ति के साथ परमात्मा भी तृप्त होगा । निरीह अवलाओं के साथ बलात्कर द्वारा पाशविक वासना के साथ-साथ धर्मकी रक्षा भी होगी । सरल शिशुओं को पत्थर पर पटकने से क्रूर मनोरञ्जन के साथ जातिसेवा भी होगी । धर्म और धन दोनों की लूट एक साथ होगी । जो जितना धन लूटेगा उतना ही धर्म होगा । भला ऐसा अवसर बार-बार थोड़े ही आता है । हजारों नर-राक्षस हाथों में गँड़ासे, तलवारें तथा दूसरे हथियार लिये हुए दौड़े चले आ रहे थे । आज उन्हें धर्म कह रहा था, मारो, लूटो और खूब लूटो । अपने मनकी अच्छी तरह निकाल लो । सभी अत्याचार और पाप आज धर्म हैं । ईश्वर तुम पर प्रसन्न है ।

हमारी गाड़ी एक छोटे से स्टेशन पर जाकर रुकी । कुछ ही दूर पर सामने वाली गाड़ी भी खड़ी थी । चारों ओर लाशें बिछी हुई थीं । सारा वातावरण भयंकर चीत्कार से भरा था । मैंने सिर निकालकर देखा, दस कदम की दूरी पर नीचे पड़ी हुई एक वृद्धा हाथ जोड़कर प्राण भिक्षा माँग रही थी, उसके ऊपर खून से भरा हुआ गँड़ासा चमक रहा था । एक ही क्षण में गँड़ासा नीचे आया और वृद्धा का सिर कट कर अलग जा पड़ा । हत्यारा भीषण अट्टहास के साथ चिल्लाया—“बोल, महात्मा गांधी की जय” और दूसरे ही क्षण में उसका गँड़ासा एक सफेद दाढ़ी वाले बूढ़े बाबा-पर तना हुआ था । एक ओर प्राणों की भिक्षा के लिए करुण पुकार और चीत्कार थी, दूसरी ओर दानवी अट्टहास के साथ ‘महात्मा गांधी की जय ।’

उन दिनों समाचार पत्र इन्हीं बातों से भरे रहते थे । इसलिए दृश्य

देखकर हृदय में आघात तो लगा किन्तु विशेष आश्चर्य नहीं हुआ। सबसे बड़ा आश्चर्य मुझे 'महात्मा गांधी की जय' सुनकर हुआ। मन ही मन सोचने लगा, यह जो बोल रहा है, और कर रहा है, क्या वह महात्मा गांधी की जय है ? क्या इसे महात्मा गांधी का भक्त कहना चाहिए ? वास्तव में वह अपने अन्दर रहे हुए पिशाचकी जय बोल रहा था। किन्तु पिशाच का असली नाम लेकर उसकी जय बोलने में लज्जा आती थी, इसलिए नाम बदल दिया। उसने उस पिशाचका नाम रख लिया, महात्मा गांधी। अब उसकी जय बोलने में किसी प्रकार की हिचकिचाहट न रही, क्योंकि महात्मा गांधी की जय तो सभी बोलते हैं।

जब-जब वह घटना याद आती है तो मनमें कई प्रकार के विचार उठने लगते हैं। वह व्यक्ति तो असभ्य था, गँवार था। वह नहीं जानता था कि महात्मा गांधी किस तत्त्वका नाम है। देश के स्वतन्त्र होने पर दूसरों की देखा देखी वह भी जय के नारे लगा रहा था।

किन्तु जब वही बात सभ्य तथा समझदार कहलाने वाले शिक्षित व्यक्तियों में दिखाई देती है तो और भी अधिक आश्चर्य होता है।

उस दिन सेठ जी की ओर से रथयात्रा निकल रही थी। हाथी, घोड़े, सरकारी बैड, सोने-चांदी के रथ तथा मोटरें और उनमें रेशमी कपड़े तथा आभूषणों से लदे हुए उनके रिश्तेदार। ऐसा प्रतीत होता था कि देश की सारी सम्पत्ति वहीं आकर जमा हो गई है। देखने वालों के मुँह से प्रशंसा के शब्द निकल रहे थे। इतने में सेठ जी की नजर मुझ पर पड़ी। उन्होंने मुस्कराते हुए कहा—“आइए न, आप भगवान की सवारी में सम्मिलित नहीं हो रहे हैं ?” मैंने कहा सेठजी ! भगवान् की सवारी है या आपकी ! भगवान् तो इन सब चीजों को छोड़कर जंगल में चले गये थे। उनके पास तो पहनने के कपड़े भी न

थे । भला, इतना ठाठ-वाठ भगवान् के पास कहाँ से आया ? यह तो सब आप ही की माया है ।”

कहने को तो वह भगवान् की सवारी थी । सभी लोग यही समझ रहे थे कि यह भगवान् का प्रदर्शन है, किन्तु विचार कर देखा जाय तो वह भगवान् का प्रदर्शन नहीं था । भगवान् तो वीतराग थे उनके प्रदर्शन का अर्थ होता है वीतरागता का प्रदर्शन । क्या वीतरागता का प्रदर्शन बन्दूक लिये हुए फौजियों के साथ होता है ? भगवान् निष्परिग्रह थे, क्या राजसी ठाठ वाले उस प्रदर्शन को एक निष्परिग्रहीका प्रदर्शन कहा जाएगा ! वास्तव में, वह सेठ जी के अन्दर रहे हुए सम्पत्ति के अभिमान का प्रदर्शन था । यहाँ जो जय बोली जा रही थी वह भगवान् की जय नहीं थी । वह सेठ जी के अहंकार की जय थी । किन्तु वह प्रदर्शन अपने असली नाम से न करके नकली नाम से किया गया । ऐसा करने से सेठ जी सेठ भी बने रहे और भगवान् के भक्त भी बन गये । किन्तु वास्तव में देखा जाय तो सेठाई और भक्ति परस्पर विरोधी बातें हैं । वीतराग का भक्त सेठ नहीं हो सकता ।

एक दिन गंगा के किनारे टहलते हुए कुछ दूर निकल गया । सामने महादेव जी का मन्दिर दिखाई दिया । विश्राम करने के लिये बैठा ही था कि एक बाबाजी आ निकले । ललाट, नाभि, छाती तथा दोनों भुजाओं पर चन्दन पुता हुआ था । कंधे पर एक अंगोछा तथा मैली-सी धोती । बाबाजी ने आते ही अपनी रामकहानी प्रारम्भ की—
“देखिए बाबूजी ! दुनिया बड़ी नास्तिक हो गई है । एक जमाना था जब भगवान्‌को इतना भोग चढ़ता था कि खाए नहीं खतम होता था । एक अब है कि भगवान् तीन दिनसे भूखे हैं । बहुत बार बिना नहाये रह जाते हैं ।”

मैंने बाबाजी से पूछा—“तीन दिनसे भगवान् भूखे हैं या आप ? भगवान् के लिए तो मैंने सुना है कि उन्हें भूख ही नहीं लगती ।”

वास्तव में वह भगवान का नाम लेकर अपनी भूख प्रकट कर रहा था ।

उस दिन समाचार पत्र में पढ़ा कि.....मन्दिर से भगवान् की सोने की आंगी चोरी चली गई । क्या वीतराग भगवान् सोने की आंगी पहिनते हैं ? समझ नहीं सका कि उन पर सोने-चांदी के आभूषण लादना उनकी पूजा है या अपमान ।

बम्बई में गणेश पूजा के अवसर पर मिट्टी के गणेश बनाये जाते हैं । एक मूर्तिकारने गणेशजी को कोट पैट पहनाए, मुंह में सिगरेट दी और एक कुर्सी पर बैठा दिया । श्री मश्रूवाला ने उस पर टिप्पणी लिखी । उनके विचार में यह हमारे देवताओं का अपमान था । किन्तु वास्तव में देखा जाय तो इसमें केवल दृष्टिकोण का भेद था । श्री मश्रूवाला जी कोट पैट और चुरट को भद्र वेष नहीं मानते जबकि वह मूर्तिकार उसी को भद्रवेष मानता है । वह सोचता है, क्या गणेश जी किसी बड़े साहब से कम थे ? उन्हें धोती पहनाकर बनिया बनाने की अपेक्षा साहब बनाना कहीं अच्छा ! आखिर साहब का दर्जा बनिये से ऊँचा ही है ।

‘कल्याण’ में देवता तथा देवियों के चित्र प्रतिमास निकलते हैं और उन्हें हजारों पढ़े लिखे पूजते हैं । उसमें सीता को मारवाड़ी लहंगा तथा मारवाड़ी आभूषण पहनाये जाते हैं । राम तथा कृष्ण सभी महापुरुष रेशमी वस्त्रों से लदे होते हैं । यदि उनकी दृष्टि में सीता किसी करोड़-पति मारवाड़ी की सेठानी से कम नहीं है, तो बम्बई के मूर्तिकार ने अपनी कल्पना के अनुसार गणेश बनाकर क्या कसूर किया ?

वही बात भगवान की आंगी के लिए है । वीतराग तथा निष्परिग्रह देवता को सोने की आंगी पहिनाना चुरट पिलाने से कम नहीं है । विचार कर देखा जाय तो इन सबमें वही मनोवृत्ति काम कर रही है जो महात्मा गांधी की जय बोलने वाले हत्यारे में थी । सभी में देवता का

नाम लेकर अपनी सांसारिक भावनाओं का प्रदर्शन किया जाता है। भगवान् या महापुरुष का नाम लेकर व्यक्ति अपनी कषायों तथा दूसरी हीन वृत्तियों का पोषण करता है। वह भगवान् का भक्त नहीं बनता किन्तु भगवान् को अपना भक्त बना लेता है। भक्ति की आड़ में अपने स्वार्थों की पूर्ति करता है।

गांधी जी अहिंसा के पुजारी थे। अहिंसा की साधना के लिए ही उन्होंने राजनीति में प्रवेश किया। वे पहले सन्त थे फिर राजनीतिज्ञ, इतना ही नहीं; किन्तु अथ से लेकर इति तक सन्त ही सन्त थे। मरने पर उनका जुलूस निकाला गया। उन्हीं लोगों ने योजना बनाई थी, जो उनकी दाईं तथा बाईं भुजा थे। उस जुलूस में मशीनगन, टैंक तथा दूसरे हथियारों द्वारा सैनिक प्रदर्शन किया गया। सारे जुलूस का रंग ढंग ऐसा था जैसे कोई महान् योद्धा की सवारी हो। महात्मा गांधी भी महान् योद्धा थे, किन्तु उनका सम्मान टैंक और मशीनगनों से नहीं किन्तु अहिंसा, सत्य और प्रेम से ही हो सकता था। टैंकों का प्रदर्शन हिंसा में विश्वास रखने वाले राजतन्त्र का प्रदर्शन था। उस समय बोली गई 'महात्मा गांधी की जय' उस हिंसक अभिमान की जय थी।

अभी-अभी प्रभास पाटन में समुद्र के तट पर सोमनाथ का विशाल मन्दिर बनवाया गया। वहाँ महादेवजी की प्रतिष्ठा की गई। सुना है, इसके निर्माण में लगभग तीस लाख रुपया व्यय होगा। महादेव तो न भवन में रहते थे, न अपने पास फूटी कौड़ी रखते थे। उन्हें महमूद गजनवी कभी नहीं लूट सकता था, वह तो उनकी तपस्या के सामने नतमस्तक हो जाता, किन्तु सोमनाथ में बैठने वाले महादेव तो अदृष्ट सम्पत्ति के स्वामी थे। उसी प्रकार के महादेव अब फिर सोमनाथ में विराजमान किये गये हैं। उन्हें भारतीय संस्कृतिका प्रतीक घोषित किया गया है। किन्तु जो महादेव भारतीय संस्कृति के प्रतीक हैं, वे तो कभी

लुट नहीं सकते। वे तो स्वयं जहर पीकर दूसरों को अमृत वांटने वाले हैं। भला महमूद उनके पास से क्या ले जायगा ? लुटने की सम्भावना तो वहाँ होती है जहाँ सम्पत्ति बटोरकर रखी जाती है। लुटनेवाले महादेव भारतीय संस्कृति के प्रतीक नहीं; किन्तु उन लोगों के प्रतीक हैं जो सम्पत्ति बटोर कर रखते हैं। उनके लुटने से भारतीय संस्कृति नहीं लुटेगी। साथ ही यह भी कहना होगा कि उनकी जय भारतीय संस्कृति की जय नहीं है। वह तो पूंजी की जय है।



महात्मा गांधी अहिंसा के पुजारी थे, किन्तु उनकी शवयात्रा के जुलूस में जो मशीनगनों, टैंकों, तथा दूसरे हथियारों द्वारा सैनिक प्रदर्शन किया गया वह सत्य और अहिंसा के पुजारी के सम्मान का प्रदर्शन नहीं था किन्तु हिंसा में विश्वास रखने वाले राजतंत्र का प्रदर्शन था। उस समय बोली गई 'महात्मा गाँधी की जय उस हिंसक अभिमान की जय थी।.....

शिवपूजा

| ३

जीवन का अर्थ है शरीर और आत्मा का सम्बन्ध । जहाँ शरीर आत्मा के लिए होता है, वह आध्यात्मिक विकास में सहायता देता है । उस व्यक्तित्व को प्राणबान कहा जाता है । इसके विपरीत जहाँ शरीर अपने आप में साध्य बन जाता है, उसके लिए आत्मा की उपेक्षा होने लगती है, वहाँ चेतन के स्थान पर जड़ की उपासना प्रारम्भ हो जाती है । जीवन के स्थान पर मृत्यु की पूजा होने लगती है ।

व्यक्ति के समान धर्म, राजनीति, समाज आदि सभी क्षेत्रों में पूजा के दोनों रूप मिलते हैं । जो धर्म इस बात को ध्यान में रखकर चलता है कि जड़ चेतन के लिये है, बाह्य क्रियाकांड, वेशभूषा आदि बातें आत्मा के विकास के लिये हैं, साथ ही जब यह देखता है कि वे आत्म-विकास में बाधा डाल रहे हैं, मिथ्या अहंकार तथा राग-द्वेष को बढ़ा रही हैं तो उन्हें परिस्थिति के अनुसार बदलने या छोड़ने को तैयार रहता है ; उसकी शक्ति क्षीण नहीं होती । इसके विपरीत जो धर्म रूढ़ि तथा परम्परा के नाम पर इन बातों को महत्व देने लगता है उसकी प्राणशक्ति क्षीण होती चली जाती है । वह आत्म-साधना का मार्ग न रहकर अहङ्कार पोषण का मार्ग बन जाता है, विकास का साधन न रहकर आत्मा का आवरण हो जाता है । वहाँ प्राण के स्थान पर शव की पूजा प्रारम्भ हो जाती है ।

काश्मीर में मुहम्मद के बाल को लेकर तूफान खड़ा हो गया । मुहम्मद ने परमात्मा पर विश्वास और विश्व-बंधुत्व का सन्देश दिया

था। उन्होंने अपने शरीर, वस्त्र या अन्य किसी जड़ वस्तु को पूजने के लिये नहीं कहा। इस्लाम जड़ वस्तुओं की पूजा को कुफ्र या नास्तिकता कहता है किन्तु उसका झण्डा लेकर चलने वाले मुहम्मद के बाल को लेकर पड़ीसी का गला काटने को तैयार हो गये। चेतन के स्थान पर शव के पुजारी बन गये। मन सन्देह में पड़ जाता है कि उन्हें मुसलमान कहा जाय या नहीं।

ईसाई धर्म में चारसौ वर्ष पहले ग्जेवियर नाम के संत हुये थे। गोवा में उनकी लाश रखी हुई है। समय-समय पर उसका प्रदर्शन किया जाता है और लाखों ईसाई दर्शन करने के लिये इकट्ठे होते हैं। ईसा ने दुखियों की सेवा करने और शत्रु को भी गले लगाने का संदेश दिया था। किन्तु अनुयायियों के लिए उस लाश का जितना महत्व है उतना उन सन्देशों का नहीं रहा।

बुद्ध का एक दांत सांची के खंडहरों में मिला था। अंग्रेज शासक उसे इंग्लैंड ले गये और लन्दन के संग्रहालय में रख दिया। भारत के स्वतन्त्र होने पर बहुमूल्य निधि के रूप में उसे वापिस लाया गया। एक वर्ष तक वह स्थान-स्थान पर घूमता रहा। स्वागत में बड़े-बड़े जुलूस निकाले गये। सांची के विहार का पुनरुद्धार किया गया और वहाँ अत्यंत सन्मान के साथ उसे स्थापित कर दिया गया। वह दांत बहुत बड़ा है, इस आधार पर कुछ विद्वानों की यह भी मान्यता है कि वह मनुष्य का दांत नहीं हो सकता।

इसी प्रकार पटना के संग्रहालय में एक सिर रखा हुआ है। कहा जाता है कि वह बुद्ध के प्रधान शिष्य सारिपुत्र का है। प्राणिशास्त्रियों को इसमें भी सन्देह है। उनकी धारणा है कि मनुष्य की खोपड़ी उस प्रकार की नहीं हो सकती।

कुछ भी हो, भगवान बुद्ध का सन्देश था कि प्रत्येक व्यक्ति अपनी बुद्धि से सोचकर चले। वे यह भी नहीं चाहते थे कि सर्व साधारण

उनकी बातों को बिना सोचे-समझे मानले । फिर भी अनुयायियों द्वारा दांत और खोपड़ी को महत्व देना समझ में नहीं आता ।

भारतीय संस्कृति में शव को जला देने की प्रथा है । उसकी धारणा है कि जो शरीर आत्मा का अधिष्ठान नहीं रहा, जिसका उपयोग समाप्त हो गया उसे सुरक्षित नहीं रखना चाहिये । ऐसा शरीर भूत-प्रेतों का अड्डा बन जाता है ।

वैयक्तिक शव जला देने की प्रथा होने पर भी सांस्कृतिक क्षेत्र में वह प्रथा नहीं है । वहाँ अब भी उन बातों को घसीटा जा रहा है जिनकी उपयोगिता समाप्त हो चुकी है । प्राचीनता के नाम पर व्यर्थ की बातों को मानव-बुद्धि पर लादा जा रहा है । संस्कृति के शव हमारे जीवन को धेरे हुये हैं और नई प्राण-शक्ति का विरोध कर रहे हैं । इतना ही नहीं, उन शवों को आधार बना कर अनेक मिथ्या धारणायें पनप रही हैं जो भूत-प्रेतों के समान साधारण जनता को डराती रहती हैं । ऐसा लगता है कि जैसे उन शवों की पूजा न करने पर वे खा जायगी । नई बात को सोचने तक में 'भय' होता है ।

धर्म एक प्रदीप के समान है । इसका अर्थ है वह अग्निशिखा, जो चारों ओर प्रकाश फैलाती है । तैल और बत्ती प्रतिक्षण अपनी आहुति देकर उस ज्योति को प्रज्वलित रखते हैं । मिट्टी का पात्र जिसमें तेल और बत्ती रखे जाते हैं केवल बाह्य आधार होता है वह सोना, चाँदी, पीतल आदि किसी धातु का हो सकता है । किन्तु यदि मिट्टी का दिया जलाने वाला इस बात का आग्रह करे कि सोने के पात्र में प्रज्वलित शिखा प्रकाश नहीं दे सकती अथवा सोने के पात्र वाला अग्नि-शिखा की उपेक्षा करके इस बात का गर्व करे कि उसका पात्र सोने का है तो दोनों को जड़ पूजक कहा जायगा । दोनों प्रकाश को छोड़कर अँधेरे में भटकते हैं । एक को गुदड़ी का अहंकार है और दूसरे को मुकुट

का ! दोनों सत्य से दूर चले जाते हैं । प्रकाश के स्थान पर अहङ्कार के उपासक बन जाते हैं ।

आत्म-साधना में बाह्य आचार का स्थान पात्र के समान है । कोई गेरुएँ कपड़े पहिनकर उस ज्योति को प्रज्वलित करने का दावा करता है कोई सफेद कपड़े पहनकर, कोई जटा बढाकर, कोई उस्त्रे से मुंडाकर और कोई बाल नोंचकर । किन्तु यदि आत्म-ज्योति प्रज्वलित नहीं होती तो सब व्यर्थ है । उनकी उत्कृष्टता तथा हीनता का मापदण्ड 'ज्योति' है, अपने आप में उनका कोई मूल्य नहीं है । 'ज्योति' न होने पर भी पात्र को महत्व देना 'शव पूजा' है ।

तेल और बत्ती के स्थान पर हम उन साधना-पद्धतियों को रख सकते हैं जो आत्मा का मालिन्य दूर करती है । कोई घी का दिया जलाता है, कोई तेल का और कोई मोम का उपयोग करता है । प्रकाश प्राप्त होने पर किसी को भी हेय नहीं कहा जा सकता । व्यक्ति को अपनी सुविधानुसार सभी का उपयोग करने की छूट है । इसी प्रकार आत्मा की ज्योति को प्रज्वलित करने के लिए कोई स्वाध्याय का मार्ग अपनाता है, कोई ध्यान का, कोई दुखियों की सेवा का और कोई तपस्या का । सर्वत्र यह आवश्यक है कि व्यक्ति कषाय एवं मोह की बत्ती को जलाता चला जाय । बत्ती जितनी जलेगी, प्रकाश उतना ही अधिक होगा । इसके विपरीत उसे जितना सुरक्षित रखा जायगा, प्रकाश की मात्रा उतनी ही शून्य होगी । प्रकाश प्राप्त होने पर भी दूसरे के तेल या बत्ती की निन्दा करना एकांतवाद है जो मिथ्यात्व का रूपान्तर है ।

किन्तु प्रायः देखा गया है कि हम अपने अहङ्कार को जलाने के स्थान पर सिद्धान्त की आड़ लेकर उसका पोषण करने लगते हैं । धर्माचार्यों में अपने अपने सिद्धान्त को उत्कृष्ट सिद्ध करने की हीड़ चल पड़ती है । उन्हें जीवन में उतारने की इतनी चिन्ता नहीं रहती

जितना उनका ढोल पीटकर दूसरे को चुप करने की। इस प्रकार सिद्धान्त आत्मा के आवरण बनकर गर्व का पोषण करने लगते हैं, जीवन के प्रेरक तत्व नहीं रहते। वास्तव में देखा जाय तो सिद्धान्त कितना ही ऊँचा हो जब तक जीवन में नहीं उतरता उसका कोई मूल्य नहीं है। ऐसा सिद्धान्त निष्प्राण-शव के समान होता है और उसका नाम लेकर हृष आत्म-विकास के स्थान पर अहङ्कार की पुष्टि करने लगते हैं।

उदाहरण के रूप में अनेकान्त को प्रस्तुत किया जा सकता है। यह एक ऐसा सिद्धान्त है जो भगड़ों का अन्त कर सकता है। उसका तकाजा है कि हम अपनी मान्यता या दृष्टिकोण को दूसरे पर लादने के स्थान पर उसके दृष्टिकोण को समझने का उपाय करें। उसकी भावनाओं और अनुभूतियों को अपनी भावनायें एवं अनुभूतियाँ बनाकर देखें। इसी का दूसरा नाम समता है, जोकि जैन-साधना का एक मात्र लक्ष्य है। किन्तु यदि कोई समता की घोषणा करने पर भी अपने को दूसरे से उत्कृष्ट समझता है, प्रत्येक बात पर दूसरे को शिथिल या पतित कहता है तो वह समता को छोड़ कर विषमता के मार्ग पर चल पड़ता है। मौखिक घोषणा मात्र से समता का उपासक नहीं बना जा सकता। समता की उपासना का ही दूसरा नाम 'सामायिक' है। यह जैन साधु का जीवनव्रत होता है। उत्तराध्ययन सूत्र में आया है कि श्रमण का अर्थ है समता का उपासक; इसे छोड़ देने पर किसी को यह अधिका नहीं रहता है कि अपने आपको श्रमण कह सके। यह समता की शवपूजा है, चेतन पूजा नहीं।

अनेकांत दूसरे के दृष्टिकोण को समझने पर बल देता है। लोक-तन्त्र के युग में इस बात को बहुत महत्व दिया जाता है कि प्रत्येक व्यक्ति को अपने विचार प्रकट करने का पूरा अधिकार है किन्तु वस्तु-स्थिति भिन्न है। हमारी इच्छा यह रहती है कि सर्वसाधारण दूसरे के विचारों को न सुने। धार्मिक जगत में यह सिखाया जाता है कि

विरोधी विचारों को सुनना मिथ्यात्व है और मिथ्यात्व पाप है। धर्म में श्रद्धा रखने वाले प्रत्येक व्यक्ति को इस पाप से बचना चाहिए। सावधान रहने पर भी यदि विरोधी की बात कान में पड़ जाय तो उसे हृदय में स्थान नहीं देना चाहिए। उसके गुणों पर ध्यान न देकर दोष निकालने का प्रयास करते रहना चाहिए। सम्यक्त्व की रक्षा के नाम पर किया जाने वाला यह प्रयत्न अनेकांत को छोड़ कर एकान्त की उपासना है। जैन परिभाषा में इसे मिथ्यात्व कहा जायगा।

हम प्रतिदिन सर्व-मैत्री की घोषणा करते हैं। मित्रता का अर्थ है दूसरों के प्रति घृणा के स्थान पर प्रेम की स्थापना। किन्तु यदि हम अपने साथी के दोष प्रगट करने में लगे रहते हैं, उसे सम्मान व सत्कार नहीं देना चाहते तो इसका अर्थ है कि मित्रता की घोषणा निरी वचना है, दंभ है। उसके द्वारा हम अपने आप को ठगते हैं। जो व्यक्ति प्रतिदिन प्रातः और सायं दोनों समय सच्चे मन से मित्रता की घोषणा करता है, उसके मन में किसी के प्रति घृणा नहीं रह सकती। वह सबसे प्रेम करेगा, सभी का आदर करेगा, सर्वत्र दोषों को त्याग कर गुण-ग्रहण करने का प्रयत्न करेगा। इसके बिना मित्रता की घोषणा केवल शव-पूजा है।



विचारों के दो रूप

४

हम जो भोजन करते हैं वह दो प्रकार से परिणत होता है। जो पच जाता है वह रक्त, मांस आदि वस्तुओं में परिणत होकर शरीर का पोषण करता है। जो नहीं पचता शरीर उसे मल के रूप में बाहर निकाल देता है। यदि वह बाहर नहीं निकलता तो विकार उत्पन्न करता है, शरीर को विपाक्त कर डालता है।

यही बात विचारों की है। विश्व एक पाठशाला है, उसमें नये नये विचार मित्रते रहते हैं। पुस्तक तथा विद्वानों से भी विचार प्राप्त होते हैं। जो हमारे जीवन में घुल जाते हैं।

कुछ ऐसे होते हैं जिन्हें पचाना संभव नहीं होता। वे जीवन में नहीं उतरते। उन्हें भुला देना चाहिए या तटस्थ वृत्ति रखनी चाहिए। ऐसा न होने पर वे दुराग्रह उत्पन्न करते हैं जो कि मन का रोग है।

धर्म के क्षेत्र में यह दुराग्रह उन्माद बन जाता है और अनेक रूपों में प्रगट होता है।

इसका पहला रूप अहङ्कार है। प्रत्येक धर्म ने सत्य, अहिंसा आदि उच्च सिद्धान्त उपस्थित किये हैं। वे ज्यों-ज्यों जीवन में उतरते हैं व्यक्ति अधिकाधिक विनम्र तथा शांत होता चला जाता है, उसकी दृष्टि अपने दोषों पर रहती है और दूसरे के गुणों पर, किन्तु जब वे नहीं पचते तो उनका नारा लगाकर अपने को ऊँचा सिद्ध करने का प्रयत्न किया जाता है। हमारा लक्ष्य आत्म-शुद्धि के स्थान पर अहंकार की पूर्ति बन जाता है। यह दो प्रकार से की जाती है। पहला प्रकार सांप्रदायिक

घृणा का है। प्रत्येक धर्मनायक तथा उसका अनुयायी दूसरे सम्प्रदाय के प्रति घृणा प्रगट करके अपने अहंकार का पोषण करता है। दूसरा रूप वैयक्तिक अहंकार का है, जहाँ अध्यात्मिक गुण न होने पर भी वेशभूषा आदि के आधार पर एक व्यक्ति अपने को दूसरे व्यक्ति से उत्कृष्ट समझने लगता है। एक जगह उन्माद सांप्रदायिकता का रूप ले लेता है और दूसरी जगह बाह्य प्रदर्शन का। दोनों परिस्थितियों में सत्य पीछे छूट जाता है। और मिथ्या अहंकार जीवन का संचालन करने लगता है।

अनपचे विचारों का दूसरा रूप अंधश्रद्धा है। उपनिषदों में सत्य के साक्षात्कार की तीन दशाएँ बताई गई हैं।

पहली दशा श्रवण की है, इसका अर्थ है शास्त्र या गुरु की बात को श्रद्धापूर्वक सुनना। उस समय उसके सत्यासत्य की ओर ध्यान नहीं दिया जाता, केवल यह जानने का प्रयत्न रहता है कि वे क्या कह रहे हैं। दूसरी दशा मनन की है इसका अर्थ है युक्तिपूर्वक विचार करना कि उनकी बात कहाँ तक ठीक है। तीसरी दशा निदिध्यासन की है अर्थात् उस सत्य का साक्षात्कार करना या जीवन में उतारना। इस दशा में विचारों का परिपाक हो जाता है। जो व्यक्ति दूसरी दशा को नास्तिकता कहकर पहली ही में बैठा रहता है उसका विकास नहीं होता। धारणायें अपने आप में सत्य होने पर भी उसके लिये मिथ्यात्व का रूप ले लेती हैं क्योंकि वह कदाग्रह पूर्वक पकड़ता है। उसकी बुद्धि प्रकाश प्राप्त करने के स्थान पर अंधकार में भटकती रहती हैं। तत्त्वार्थसूत्र में सम्यग् ज्ञान और मिथ्या ज्ञान का यही भेद किया गया है। एक ही धारणा जब समझपूर्वक बनाई जाती है तो वह सम्यक् ज्ञान में आती है। उसी का आधार यदि दुराग्रह है तो मिथ्या हो जाती है। यह दुराग्रह कहीं प्रवर्त्तक, कहीं शास्त्र, कहीं परंपरा और कहीं बाह्य आचार को लेकर खड़ा होता है।

प्रायः देखा गया है कि विभिन्न संप्रदायों के अनुयायी प्रत्येक विचार के लिए अपने-अपने प्रवर्तक के शब्दों को पकड़े रहते हैं और उन्हें पद-पद पर दोहराते रहते हैं। वे अपनी बुद्धि से सोचना और अपनी आँखों से देखना बंद करके अचेतन वस्तु के समान उन्हीं के प्रवाह में बहे जाना चाहते हैं। इस प्रकार के प्रवाह को प्रगति नहीं कहा जा सकता। प्रगति का अर्थ है स्वयं सोच समझकर स्वतन्त्रता पूर्वक कदम बढ़ाना।

महापुरुष के पीछे सम्प्रदाय या अन्य प्रकार के संगठनों का जाल खड़ा हो जाता है। वे उसके शब्दों को दोहराते रहते हैं और स्वतंत्र विचारकों को दण्डित करने का प्रयत्न करते हैं। विचारों का अजीर्ण उन्हें उन्मत्त बना देता है। धर्म का रक्त-रंजित इतिहास इन्हीं अनपचे विचारों का इतिहास है। डंकार उसी भोजन की आती है जो नहीं पचता और छाती पर रखा रहता है। दूषित वायु ऊपर उठती है और तब तक चैन नहीं पड़ता जब तक वह बाहर नहीं निकल जाती। इसी प्रकार अनपचे विचार हमारी छाती पर धरे रह जाते हैं। गहंकार मिश्रित वायु बेचैनी पैदा करती है और उन्हें उगलने के लिए उकसाती रहती है। जब उगल देते हैं तो क्षणिक शांति मिलती है। इस उगलने के लिए श्रोताओं की आवश्यकता होती है और उन्हें एकत्रित करने के लिए मिथ्या आडम्बर एवं प्रपच रचे जाते हैं, जिन्हें 'प्रभावना' कहा जाता है।

प्रदीप को अपने प्रकाश के लिए घोषणा करने की आवश्यकता नहीं होती। वह जलता है और प्रकाश अपने आप फैलता है। घोषणा की आवश्यकता केवल बुझे हुए मिट्टी के पात्र को होती है, जो इस आधार पर सम्मान प्राप्त करना चाहता है कि उसका कभी प्रकाश के साथ सम्बन्ध रहा था। प्रायः देखा गया है कि जो व्यक्ति वर्तमान को उज्ज्वल नहीं बना सकता, वही अतीत की डींगें हाँकता है। यही बात धार्मिक परम्पराओं की है।



सेठ, नेता, पण्डित, साधु

५

सेठ का अर्थ है वह व्यक्ति जिसका मुख्य बल धन है, जो बाह्य सम्पत्ति के आधार पर दूसरे से अपने को श्रेष्ठ मानता है और उसका प्रदर्शन करता रहता है। कुछ व्यक्ति सम्पत्ति को उत्तराधिकार के रूप में प्राप्त करते हैं, उनमें निजी गुणों का होना आवश्यक नहीं होता। धनवान पिता की संतान होना ही उनका सबसे बड़ा गुण होता है। ऐसे व्यक्ति अधिकतर अपने कुल या खानदान की प्रशंसा करते रहते हैं। दूसरे लोग स्वार्थ पूर्ति के लिए यदि उनके पूर्वजों अथवा कुटुम्बियों की प्रशंसा करते हैं, तो उसे वे अपनी प्रशंसा समझते हैं। उनकी कामुकता को रसिकता कहकर सराहा जाता है, अप-व्यय को उदारता, मिथ्या-अहंकार को आत्म-सम्मान और बाह्य प्रदर्शन को शान या कुल गौरव। अनपढ़ होने पर भी उन्हें शिक्षा संस्थायें उच्चतम स्थान पर बैठाती हैं। चरित्रहीन होने पर भी धार्मिक संगठन उनका यशोगान करते हैं। उनके प्रत्येक अवगुण को गुण का रूप दे दिया जाता है और वे अपने को वास्तव में गुण-संपन्न समझने लगते हैं। दूसरे शब्दों में यों कहा जा सकता है कि धन का उन्माद उनकी चेतना-शक्ति को ढँक देता है। उन्हें निजी रूप का भान नहीं होने देता। विद्या, त्याग, कला आदि किसी भी क्षेत्र में वे अपनी कमी का अनुभव नहीं करते, फलस्वरूप

विकास पूर्णतया अवरुद्ध हो जाता है। वे समय-समय पर जो दूसरों की आर्थिक सहायता करते हैं उसके फलस्वरूप होने वाला यशोगान उस आवरण या अवरोध को उत्तरोत्तर निविड बनाता चला जाता है।

धनवान का दूसरा रूप उन लोगों का है जो अपने परिश्रम, प्रतिभा तथा पुरुषार्थ से धनोपार्जन करते हैं। ऐसे व्यक्तियों को संगठन शक्ति, अवसर की जानकारी, व्यवहार में मधुरता आदि गुणों का विकास करना होता है। विलासिता, आलस्य तथा अहंकार से दूर रहना होता है। उनमें साहस की पर्याप्त मात्रा होती है फिर भी बहुत से व्यक्ति ऐसे होते हैं जो सफलता प्राप्त होने पर पूर्वावस्था को भूल जाते हैं। साधारण वर्ग के साथ सहानुभूति घटती चली जाती है और ऐसे वर्ग के साथ गठबन्धन प्रारम्भ हो जाते हैं जो उन्हें सामाजिक प्रतिष्ठा प्रदान कर सकें। उपार्जन काल में वे जो सफेद-काला करते रहे हैं उस पर पर्दा डाल सकें। इसके लिये वे नेताओं या धर्मगुरुओं के साथ नाता जोड़ते हैं। उनकी आर्थिक आवश्यकताएँ पूर्ण करके बदले में सामाजिक सन्मान प्राप्त करना चाहते हैं। इस प्रकार दोनों मिलकर सर्व साधारण की चेतना को कुंठित करने का प्रयत्न करते रहते हैं।

स्वयं उपार्जन करने वालों में कुछ ऐसे भी होते हैं जो पूर्वावस्था को नहीं भूलते। वे अपनी सम्पत्ति को भोग विलास तथा झूठी प्रशंसा में लगाना उचित नहीं समझते। इसके स्थान पर प्रतिभाशाली व्यक्तियों को ऊपर उठाना चाहते हैं, जिनका विकास आर्थिक कठिनाई के कारण रुक जाता है। प्रथम प्रकार के धनवानों में आत्मचेतना सर्वथा अवरुद्ध रहती है। दूसरे प्रकार में प्रारम्भकाल अपेक्षाकृत विकसित चेतना का होता है किन्तु वह उत्तरोत्तर कुंठित होती चली जाती है। तीसरे प्रकार में वह अवरुद्ध नहीं होती। वहाँ अभ्यन्तर और बाह्य गुणों का समन्वय हो जाता है। जैनदृष्टि से देखा जाय तो यही श्रावक की भूमिका है।¹³⁵

नेता के पास धनबल के स्थान पर जनबल होता है। इस बल की प्राप्ति मुख्यतया प्रदर्शन द्वारा होती है। नेतृत्व के लिये सबसे अधिक आवश्यकता अवसर की पहिचान है। जो व्यक्ति यह जानता है कि जनता के सामने किस समय क्या बात रखनी चाहिये और कैसा प्रदर्शन करना चाहिये वह उसके हृदय पर घर कर लेता है। विद्या या आध्यात्मिक गुण वास्तव में न होने पर भी जो उनका प्रदर्शन करना जानता है, नेता बन सकता है। वहाँ त्याग की इतनी आवश्यकता नहीं होती जितनी त्याग के प्रदर्शन की। संकटग्रस्त जनता का हृदय जीतने के लिए वास्तविक सहायता की उतनी आवश्यकता नहीं होती जितनी सहायता या सहानुभूति के प्रदर्शन की। जो जनता अत्याचार-पीड़ित है उसके लिए इतना ही पर्याप्त है कि उत्पीड़क को गालियाँ दी जाएँ और पीड़ितों की माँग को न्यायपूर्ण बताया जाये। जोर-जोर से नारे लगाना, झण्डा लेकर फिरना, अवसर के अनुसार वेशभूषा आदि सभी नेतृत्व-कला के अंग हैं। यदि विद्वान् अपनी विद्या का सच्चा-भूठा प्रदर्शन करने लगता है तो वह विद्या के स्थान पर नेतृत्व का पुजारी बन जाता है। इसी प्रकार जब त्यागी तपस्या, त्याग या वेशभूषा का प्रदर्शन करने लगता है तो अपने पद से गिर जाता है।

पण्डित का मुख्यबल विद्या है। वह सचाई को समझता है। और उसी आधार पर प्रतिष्ठा प्राप्त करता है। यदि पण्डित धन प्राप्त करने के लिये किसी की झूठी प्रशंसा करता है तो कहा जायगा कि वह विद्या के स्थान पर धन का उपासक बन गया। ऐसी स्थिति में पण्डित अपनी प्रतिष्ठा खो देता है। दूसरी ओर यदि वह अपनी धारणाओं को जीवन में उतारने का प्रयत्न करता है तो यह कहा जायगा कि वह साधुता की ओर बढ़ रहा है। जैन-परिभाषा में पण्डित का अर्थ सम्यग्दृष्टि है जो सत्य को जानता तो है किन्तु वाचरण में नहीं लाता।

साधु का मुख्य बल त्याग है। वह सब, कुछ त्याग कर प्रतिष्ठा प्राप्त करता है। दूसरे शब्दों में यों कहना चाहिए कि उसे प्रतिष्ठा का मोह भी नहीं होता। त्याग उसका सर्वस्व है। उसके लिये, प्राणों तक का उत्सर्ग करने के लिये तैयार रहता है। किसी वाह्यसुख की कामना नहीं करता।

सच्चा त्यागी अपने आदर्श का सदा ध्यान रखता है। साधारणतया देखा गया है कि जब कोई धनवान् त्यागी का भक्त बन जाता है तो उसमें अहंकार की मात्रा बढ़ने लगती है। सर्व साधारण त्यागी की इस आधार पर प्रशंसा करता है कि कितने धनवान या राज्याधिकारी उसके भक्त हैं। वास्तव में देखा जाय तो हाथ जोड़ने मात्र से कोई किसी का भक्त नहीं होता। इसके लिए यह देखने की आवश्यकता है कि किस पर किसका असर पड़ रहा है! कौन किसको महत्व दे रहा है! यदि त्यागी का प्रभाव धनवान पर पड़ रहा है और वह उत्तरोत्तर त्याग की ओर आकृष्ट हो रहा है तो यह कहा जायगा कि धनवान त्यागी का भक्त है। इसके विपरीत यदि त्यागी धनवान को महत्व दे रहा है, उसे अपनी ओर आकृष्ट करने के लिये मीठी-मीठी बातें बनाता है, उसके द्वारा स्वार्थ सिद्ध करना चाहता है तो यह कहा जायगा कि त्यागी धनवान का भक्त है।

इसी प्रकार जो त्यागी विविध प्रदर्शनों द्वारा जनता को अपनी ओर आकृष्ट करना चाहता है वह नेता बन जाता है। कोई तपस्या का प्रदर्शन करता है, कोई वेशभूषा का, कोई सच्चे झूठे पाण्डित्य का और कोई संगठन और ऊँचे-ऊँचे आदर्शों की बातें बनाकर भोली जनता को अपनी ओर खींचना चाहता है। कोई मंत्र तंत्र आदि का प्रलोभन देता है। ये हथकण्डे त्यागी को त्यागी नहीं रहने देते, उसे नेता बना देते हैं।

धर्म संस्था को धनवान या नेताओं की उतनी आवश्यकता नहीं है जितनी पण्डित अथवा स्वतन्त्र विचारकों और त्यागियों की। एक में ज्ञान-बल होता है और दूसरे में चरित्र-बल। दोनों की पृष्ठ-भूमि में श्रद्धा-बल रहता है। यही तीन बल धर्म-संस्था की आधार-शिला हैं। धन, नेतृत्व आदि बाह्य बलों के लिए इन आंतरिक बलों की उपेक्षा करना उचित नहीं कहा जा सकता।



.....यदि त्यागी का प्रभाव धनवान पर पड़ता है तो धनवान उत्तरोत्तर त्याग की ओर आकृष्ट होगा, और कहा जायगा कि धनवान त्यागी का भक्त है। इसके विपरीत त्यागी धनवान को महत्त्व देता है, मीठी-मीठी बातें बनाकर उसे खुश रखना चाहता है। तो यह कहा जायगा कि त्यागी धनवान का भक्त है।

* * *

जीवन के उपहास

* * *

२

श्री गणेशाय नमः

सांस्कृतिक प्रगति

का

| १

प्रथम दिन

संसार में प्रत्येक व्यक्ति अपने को सच्चा मानता है। वह इस बात की घोषणा करता है कि सत्य को स्वीकार करने में उसे किसी प्रकार की हिचकिचाहट नहीं होगी, किन्तु यदि वह वास्तव में ऐसा ही हो तो दुनिया के झगड़े मिट जायें। व्यक्ति जिन बातों को तर्कसङ्गत और न्याय्य कहकर घोषित करता है, उनके पीछे उसके जातीय अभिमान, स्वार्थ, मिथ्या अभिनिवेश, जमे हुये संस्कार, बाह्य प्रभाव तथा अन्य बहुत से तथ्य काम करते रहते हैं। वह सत्य को उन्हीं का चश्मा लगाकर देखना चाहता है। यदि मानव उन्हें अलग कर सोचना सीख जाय तो विश्व में सुख और प्रेम बरसने लगें।

कुछ दिन पहले नाजी यह मानते थे कि वे दुनिया पर शासन करने के लिए उत्पन्न हुए हैं। प्रत्येक नाजी इसे एक सच्चा और तर्कसङ्गत अधिकार समझता था। किन्तु वही मिथ्या अभिमान उनके विनाश का कारण बन गया। पंजाब के सिक्ख 'राज करेगा खालसा' की रट लगा रहे हैं और इसे गुरु की वाणी मानकर सारे भारत पर राज्य करने के स्वप्न देख रहे हैं। नहीं कहा जा सकता, यह विश्वास उनके लिए कैसा फल लायगा। वैदिक काल में यह माना जाने लगा था कि ब्राह्मण कुल में उत्पन्न हुआ व्यक्ति किसी प्रकार का पाप नहीं करता। आजकल इंग्लैंड में प्रचलित है कि 'राजा कभी गलती नहीं

कर सकता ।' यूरोप सरीखे जागृत महाद्वीप में भी बहुत से व्यक्ति ऐसे होंगे जो इसे एक सत्य सिद्धान्त मानते हों ।

हमें यह सोचना है कि इस प्रकार के विचारों के निर्माण में कौन से तथ्य काम करते हैं । क्या व्यक्ति उनसे अलिप्त रहकर पूर्ण सत्य को प्राप्त कर सकता है ?

यदि इस प्रश्न का विचार दार्शनिक भूमि पर किया जाय तो यही उत्तर होगा कि सांसारिक कार्य-व्यवहारों में लगा हुआ व्यक्ति उस अवस्था तक नहीं पहुँच सकता । दार्शनिकों का कथन है कि तर्क द्वारा सत्य को नहीं पहिचाना जा सकता । उसके लिए साक्षात् अनुभूतात्मक ज्ञान होना चाहिए । वह ज्ञान सांसारिक द्वन्द्वों से विनिर्मुक्त प्राणी ही प्राप्त कर सकता है । वेदान्तसूत्र तो तर्क के मार्ग को वहीं तक उपादेय मानता है, जहाँ तक वह श्रुति के अनुकूल है । जैन दर्शन के अनुसार तर्क नयों पर आश्रित है जो भिन्न-भिन्न दृष्टिकोणों को प्रकट करते हैं । उनसे सम्पूर्ण सत्य नहीं जाना जा सकता, किन्तु यहाँ हमें व्यवहार-भूमि पर विचार करना है ।

बहुत से व्यक्ति अपना निर्णय उपयोगिता के आधार पर करते हैं । वे उसी बात को सच्ची कहेंगे जिसे सच मानने पर वैयक्तिक या सामाजिक दृष्टि से अधिक लाभ प्रतीत होता है । सामाजिक संस्थाओं में इस प्रकार की मनोवृत्ति अधिक पाई जाती है । यदि विद्यार्थी या अधिकारियों में किसी प्रकार का वादविवाद हो गया तो विद्यार्थियों को झूठा कहकर चुप कर दिया जाता है । उनकी दृष्टि में वह व्यक्ति कभी झूठा नहीं हो सकता जिसने संस्था को मोटी-सी रकम दान की है । विद्यार्थी या तो चुप होकर बैठ जाते हैं या अपने को सच्चा सिद्ध करने के लिये हड़ताल करते हैं, तूफान मचाते हैं, अनशन करते हैं । संस्था के अधिकारी उन्हें तभी सच्चा मानने के लिये तैयार होते हैं जब उन्हें

अपना काम बिगड़ता दिखाई देता है। वहाँ सत्य की कसौटी वस्तुस्थिति न रहकर ताकत हो जाती है।

कई राजनीतिक या सामाजिक नेताओं को देखा गया है कि वे सदा शक्ति के साथ रहते हैं। जिस पार्टी ने जोर पकड़ा उसी के साथ हो लिए। किन्तु यह नहीं माना जा सकता कि बल हमेशा सचाई के साथ ही रहता है। जिस व्यक्ति के पास अधिक पैसा है, प्रचार के लिए साधन हैं, छल-प्रपंच रचने तथा बगुला भगत बनने की कला है वह अनेक सत्यवादियों को पछाड़ देता है।

भारत सरकार ने 'सत्यमेव जयते' अपना आदर्श-वाक्य बना रखा है। किन्तु यदि इसका अर्थ यह मान लिया जाय कि जो जीतता है वह सच्चा होता है तो परिणाम उल्टा ही निकलेगा। सत्य का अर्थ ही बदल जायगा। जैन शास्त्रों में इसकी जगह एक दूसरा वाक्य है 'सच्चं लोगम्मि सारभूयं' अर्थात् सत्य ही संसार में सारभूत है। जय ओर पराजय का सम्बन्ध मुख्यतया भौतिक एषणाओं से है। उनके लिए यह आवश्यक नहीं है कि सत्यवादी की ही जय हो। किन्तु यह निश्चित है कि विश्व का कल्याण सत्य पर निर्भर रहने से ही हो सकता है।

किसी एक बात में सफल होने पर देश या समाज के नेताओं में यह मिथ्या अभिमान-सा हो जाता है कि वे कोई गलती नहीं कर सकते वे अपने दोष को सुनने के लिए तैयार नहीं होते। जनता में भी एक ऐसी अन्धमनोवृत्ति पाई जाती है कि किसी एक क्षेत्र में विशेषता पाए हुए व्यक्ति को वह सर्वज्ञ मानने लगती है। गांधीजी के विषय में ऐसा ही था। ऐसा कोई विषय नहीं था जिसके लिए लोग उनकी सलाह न लेते हों। कोई साहित्यिक प्रश्न हो, भाषा सम्बन्धी हो, अर्थशास्त्र सम्बन्धी हो, अथवा चिकित्सा, ज्योतिष या अन्य किसी शास्त्र से सम्बन्ध

रखता हो। उन्हें प्रत्येक विषय पर बोलने का अधिकार था। सम्भवतया भारत में यह धारणा सर्वज्ञवाद का भग्नावशेष है।

एक सज्जन जब कोई योजना तैयार करते हैं तो दूसरे द्वारा समर्थन प्राप्त करना चाहते हैं। वे उस पर निष्पक्ष राय माँगते हैं। जब तक दूसरा व्यक्ति उनकी बातों का समर्थन करता रहता है तब तक तो प्रसन्नता से सुनते रहते हैं किन्तु प्रतिकूलता आते ही बिगड़ खड़े होते हैं। वे अनुकूल बातों के लिए तो दूसरे के निर्णय की प्रशंसा करते हैं और उसे तर्कसंगत मानते हैं किन्तु यदि वही व्यक्ति प्रतिकूल बात करता है तो उसे त्रुटिपूर्ण मानने लगते हैं। उन्हें यह समझना चाहिये कि प्रतिकूलता के समय भी उस व्यक्ति की वही योग्यता रहती है जो अनुकूलता के समय थी।

बहुत-से व्यक्ति सत्य और झूठ का निर्णय ढोल की आवाज पर करते हैं। वे उसी को सत्य मानते हैं जिसका ढोल जोर से बजता है। सुनाने वालों में ऐसी मनोवृत्ति और भी अधिक पाई जाती है। एक सज्जन जब किसी विवादात्मक प्रश्न पर बात करते हैं दूसरे की बात सुनना बन्द कर देते हैं और स्वयं जोर जोर से बोलना शुरू करते हैं। वे समझते हैं, इससे उनकी बात सत्य सिद्ध हो जायेगी।

कई व्यक्ति सहृदय और सज्जन होने पर भी अपनी बात इतनी लम्बी कर देते हैं कि दूसरे को बोलने का अवसर ही नहीं मिलता। परिणाम यह होता है कि दूसरा कुछ नहीं कह पाता और वे अपने निर्णय पर ज्यों के त्यों बने रहते हैं। पुराने आदमियों में यह मनोवृत्ति अधिक पाई जाती है।

उपदेश देने का तो भारत में रोग-सा है। एक आदमी की लाखों रुपये वार्षिक आय है। उस पर भी दिन-रात तोबा करता रहता है। जब एक मजदूर अनिवार्य आवश्यकताओं से तंग आकर वेतन

बुद्धि की प्रार्थना करता है तो वे सन्तोष पर व्याख्यान देने लगते हैं। उन्हें अपने उपदेश और व्यवहार में कोई असंगति नहीं दिखाई देती। मजदूर आर्थिक दृष्टि से निम्नस्तर पर है, इसलिए वे उसे प्रत्येक दृष्टि से निम्न मानते हैं। बुद्धि, ईमानदारी, धर्म तथा अन्य सभी गुणों में वे अपने को मजदूर से श्रेष्ठ मानते हैं। चाहे वे खुले आम शोषण कर रहे हों, फिर भी पसीने की कमाई खाने वाले मजदूर से नैतिकता तथा चरित्र-बल में भी अपने को उच्च मानते हैं।

एक सज्जन जब किसी से बात करते हैं और अपना पलड़ा हल्का होता देखते हैं तो दूसरे पर व्यक्तिगत आक्षेपों की बौछार शुरू कर देते हैं। प्राचीन तर्कशास्त्र में इस प्रकार के हथकण्डों को छल और जाति के नाम से गिनाया गया है। इनसे सत्य, सिद्ध होने की अपेक्षा व्यक्ति उत्तरोत्तर दूर जाता है।

शास्त्र, परम्परा, भगवान् और धर्मगुरु की दुहाई देकर सत्य पर परदा डालना तो आम बात है।

इन सब बातों के होते हुए भी हम यह नहीं कह सकते कि मनुष्य सत्य के पास पहुँच ही नहीं सकता। उसे प्राप्त करने के लिए शुद्ध वैज्ञानिक दृष्टि की आवश्यकता है। उसके लिए अपने वैयक्तिक अभिनिवेश, पूर्वाग्रह तथा जमे हुये संस्कारों को छोड़कर शुद्ध वस्तु स्थिति के आधार पर निर्णय करने की आदत डालनी होगी। वैयक्तिक अभिनिवेश जितने कम होंगे, सत्य उतना ही समीप आएगा।

एक व्यक्ति को हम अपना शत्रु मान लेते हैं, ऐसी दशा में उसकी प्रत्येक बात विपरीत दिखाई देती है। हम जिसे बेईमान मान लेते हैं, उसके प्रत्येक कार्य में स्वार्थ दिखाई देता है। अपने पक्षवाले की प्रत्येक बात उचित दिखाई देती है और दूसरे की अनुचित। जिस व्यक्ति को हम अपना शत्रु मानते हैं उसके लिये हमें यह भी जानना चाहिए कि

उसका मित्र उसके विषय में क्या सोचता है। फिर, दोनों पक्षों को सामने रखकर युक्ति के आधार पर सत्यासत्य का निर्णय करना चाहिये। सत्य का सम्बन्ध प्रतिपादित वस्तु या घटना से है, प्रतिपादक से नहीं। इसी का नाम वैज्ञानिक दृष्टि है। स्याद्वाद दृष्टि प्रत्येक तथ्य को भिन्न-भिन्न दृष्टिकोणों से जाँचना सिखाती है। यदि मनुष्य यह करना सीख जाय और एकान्त दृष्टि को छोड़ दे तो सभी भगड़ों का अन्त हो जाय।

आवश्यकता इस बात की है कि वह दृष्टि केवल पाण्डित्य प्रदर्शन की वस्तु न रहकर अन्तस्तल में उतर जाय। जीवन का आवश्यक अंग बन जाय। हमारे विचार और व्यवहार में कितना ही अन्तर हो, वह अखरता नहीं। बेईमान ईमानदारी की बातें करता है और व्यभिचारी ब्रह्मचर्य का उपदेश देता है। एक करोड़पति त्याग की बातें करते हुये लज्जित नहीं होता। विचार और व्यवहार का यह अन्तर जिस दिन अखरने लगेगा सांस्कृतिक प्रगति का वह प्रथम दिन होगा।



हम किधर बह रहे हैं ?

| २

बम्बई जैन युवक सङ्घ एक असाम्प्रदायिक संस्था है। इसमें प्रत्येक व्यक्ति को अपने स्वतन्त्र विचार प्रकट करने का अधिकार है। सङ्घ के सदस्य किसी की बात सुनते समय इस बात को महत्व नहीं देते कि बोलने वाला कौन है या किस सम्प्रदाय को मानने वाला है। यहाँ सभी के लिए द्वार खुला है। महत्व इसी बात को दिया जाता है कि बोलने वाले में सत्य और शिव की मात्रा कितनी है। स्वतन्त्र विचारों का इस प्रकार स्वागत करने वाली संस्थायें जैन समाज में ही नहीं, भारत में भी कम है। बम्बई आते समय मेरे लिये यह एक आकर्षण था। इसीलिये एक साम्प्रदायिक संस्था में भी कार्य करना स्वीकार कर लिया।

यह कहने की आवश्यकता नहीं है कि इस प्रकार की संस्थायें आर्थिक दृष्टि से अत्यन्त कृश हैं। उन्हें प्रतिदिन के भोजन की चिन्ता करनी पड़ती है। दूसरी और साम्प्रदायिक संस्थाओं के पास गगनचुम्बी प्रसाद हैं। उनका घंटानिनाद मार्ग में चलने वालों को अनवरत सुनाई देता रहता है। इसका कारण है कि असाम्प्रदायिक संस्था किसी प्रकार का उन्माद नहीं पैदा कर सकती और उन्माद पैदा किये बिना विरले ही दानशूर बनते हैं। जिस प्रकार युद्ध में प्राण अर्पित करने के लिए सैनिकों को मदिरा, रणवादित्र तथा जयघोष आदि के द्वारा एक प्रकार का उन्माद चढ़ाया जाता है, उसी प्रकार बड़ा दान देने के लिये भी विशिष्ट प्रकार का उन्माद चढ़ाने की आवश्यकता होती है। जिस

प्रकार बिना उन्माद के सोच समझ कर प्राणों की आहुति देने वाले कम होते हैं, उसी प्रकार उन्माद के बिना धन देने वाले भी विरल होते हैं। कृश होने पर भी ऐसी संस्थाओं का अस्तित्व मानवता के लिये बहुत बड़ा वरदान है। अनन्त अन्धकार में वह एक क्षीण प्रकाश किरण के समान है। जिस समय समाज की नीका सम्प्रदायवाद के तूफान एवं अंधकार के वशीभूत होकर प्राणघातक चट्टान की ओर बढ़ने लगती है, ऐसी संस्थायें उसे भय की सूचना देती हैं। वे उसे बचाने में समर्थ हो सकें या न हो सकें किन्तु विनाश की सूचना तो दे ही देती हैं।

मैं स्थानकवासी कान्फरेंस में कार्य करने के लिये यहां आया तो अच्छी तरह जानता था कि संकुचित वातावरण वाली साम्प्रदायिक संस्था में जा रहा हूँ। श्री परमानन्द भाई तथा अन्य मित्रों ने संकेत भी किया था। फिर भी एक प्रयोग के रूप में मैंने इसे स्वीकार किया। जिन संस्थाओं को आज हम साम्प्रदायिक या प्रतिगामी समझ कर तिरस्कार की दृष्टि से देखते हैं, अपने जन्मकाल में वे भी क्रान्तिकारी संस्था के रूप में सामने आईं। उसको जन्म देने वाले व्यक्तियों में सुधार की भावना थी। साथ ही उन्होंने अपने त्याग और तपोबल के द्वारा उन्हें सींचा। फिर वे आज प्रतिगामी क्यों बन गई हैं, यह एक विचारणीय प्रश्न है। जो संस्था विकास की भावना को लेकर उत्पन्न हुई वह विकास में बाधक क्यों बन रही है? यदि इस प्रश्न का उत्तर यह दिया जाय कि व्यक्ति के समान संस्था भी बाल्यकाल, यौवन तथा वार्द्धक्य को प्राप्त करती है। यह एक शाश्वत नियम है। तो यह नियम जैन युवकसङ्घ पर भी लागू होगा। यह भी एक दिन बूढ़ा हो जाएगा। ऐसी स्थिति में हमें पुरानी संस्थाओं से घृणा करने की आवश्यकता नहीं है, किन्तु घर के वृद्धजनों के समान उन्हें निवृत्ति दे देनी चाहिये। किन्तु यदि वे निवृत्ति न लेना चाहें तो विचारणीय समस्या हो जाती है। उस समय भद्र अवज्ञा का आश्रय भी लिया जा

सकता है। यदि युवकसङ्घ इस शाश्वत नियम को मानता है तो उसके लिए उचित होगा कि अवज्ञा का अवसर आने से पहले ही निवृत्त हो जाय या समय के साथ उचित परिवर्तन करता रहे।

वस्तुतः देखा जाय तो ऐसी संस्थाएँ इसलिये जीर्ण हो जाती हैं कि उनमें नया रक्त नहीं आने पाता। वृद्ध लोग, जो अपने यौवन में क्रांतिकारी थे, पचास साल बीतने पर भी उन्हीं विचारों को पकड़े रहते हैं और फिर भी अपने को क्रांतिकारी मानते हैं। वे यह मान कर बैठ जाते हैं कि जहाँ तक हम चले हैं उससे आगे कोई नहीं जा सकता। वृद्ध यदि अपने को वृद्ध मानने लगे तो विशेष हानि नहीं होती। किन्तु जब वह अपनी जीर्ण शक्ति के मापदण्ड द्वारा युवा शक्ति को नापना चाहता है तो धोखा खाता है। उसे चाहिए कि युवकों को अपने अनुभव का लाभ देकर अलग हो जाय, उन्हें आगे बढ़ने दे। उनकी प्रगति तथा विचारों को कुण्ठित करने का प्रयत्न न करें।

ऐसी संस्थाओं के प्रतिगामी बनने का दूसरा कारण उनकी परिग्रह-परायणता है। यह परिग्रह दो प्रकार का होता है। उपनिषदों की परिभाषा में इसे लोकैषणा तथा वित्तैषणा कहा जायगा। समाज के प्रतिनिधित्व की चिन्ता करने वाली संस्थाओं को लोकैषणा का ध्यान रखना पड़ता है। वे सुधार करना चाहती हैं किन्तु उसके लिए किसी वर्ग को नाराज नहीं कर सकती। इतना ही नहीं जिस वर्ग के हाथ में जनमत या पूँजी है उसकी अनुचित प्रशंसा भी करनी पड़ती है। जिसका विरोध करना चाहिए उसी के गीत गाने पड़ते हैं। फिर वे सीधे रूप में हों या आड़े टेढ़े रूप में। उस समय सत्य या समाज-हित की दृष्टि गौण हो जाती है और सत्ता-प्राप्त वर्ग को प्रसन्न करने की मुख्य। कान्फरेंस सरीखी लोकतन्त्रात्मक संस्थाओं में ही नहीं, शिक्षा तथा अन्य लोकोपयोगी संस्थाओं में भी, जहाँ विद्या, तपस्या एवं सेवा के वातावरण की आशा की जाती है, ऐसा करना पड़ता है। तपोव्रत को भी राजाओं का गुलाम बनना पड़ता है। प्रत्येक संस्था पैसे से चलती है और पैसे

पैसे वाले से ही मिल सकता है। इसके लिये वार्षिकोत्सव या अन्य किसी प्रकार का समारोह रचकर उसे सभापति बनाया जाता है। उसके हाथ से उद्घाटन या शिलान्यास कराया जाता है। उस समय उसके गीत भी गाने पड़ते हैं, जो संस्था परिग्रह या संचय पर निर्भर है, फिर वह धनसंचय हो या जन-संचय हो, वह अपरिग्रह या त्याग की बातें उतनी ही कर सकती है जहाँ तक परिग्रह को आघात न लगे। वह सत्य तथा अहिंसा का वेश असत्य को छिपाने के लिए पहिनती है।

ऐसी संस्थाओं में ईमानदारी से काम करने वालों के सामने एक विचित्र अन्तर्द्वन्द्व खड़ा हो जाता है। एक ओर सत्य का प्रश्न होता है और दूसरी ओर संस्था के प्रति वफादारी का। बाहर भी उसे दोनों प्रकार के व्यक्ति मिलते हैं, कुछ सत्य की आशा रखते हैं और कुछ संस्था के प्रति वफादारी की। ऐसे धर्म-सङ्कट में एक भावुक व्यक्ति कुछ भी नहीं कर पाता। असत्य का पोषण करते समय आत्मा विद्रोह करती है और सत्य प्रकट करते समय संस्था का विद्रोह होता है जिसे न करने के लिये वह वचन तथा नैतिक दृष्टि से बद्ध है।

उपनिषदों में आता है—‘असत्ये वर्त्मनि स्थित्वा ततः सत्यं समीहते।’ अर्थात् मनुष्य सत्य की खोज के लिये असत्य मार्ग का अवलम्बन करता है। प्रायः संस्थायें इसी आदर्श को सामने रखकर चलती हैं। लोक कल्याण की साधना के लिये यह आवश्यक मान लिया जाता है कि कुछ न कुछ असत्य का आश्रय लेना पड़ेगा। किन्तु जैन परम्परा इस बात में विश्वास नहीं करती। असत्य का मार्ग आपको सत्य पर नहीं ले जा सकता। ध्येय शुद्धि के साथ-साथ उपाय भी शुद्ध होना आवश्यक है।

उस दिन परमानन्द भाई ने ‘प्रबुद्ध जैन’ के विषय में सुझाव देने के लिए कहा। मेरे सामने यह प्रश्न उपस्थित हुआ कि ‘प्रबुद्ध जैन’ बन्धई जैन युवकसङ्घ का मुख-पत्र है। ऐसी स्थिति में उसे अपनी

मातृ-संस्था का वफादार तो होना ही चाहिये । यदि स्थानक कान्फरेंस एक छोटा बाड़ा है तो जैन युवकसङ्घ एक बड़ा बाड़ा । बाड़ाबन्दी बुरी है तो छोटे और बड़े में, तरतम हो सकता है किन्तु किसी को उपादेय नहीं कहा जा सकता ।

इन प्रश्नों का उत्तर सोचते समय मेरे सामने दो दृष्टियाँ आई । निश्चय दृष्टि से प्रत्येक संगठन एक बाड़ा है और इस लिए हेय है । जो लोग उन्मुक्त विचरण करना चाहते हैं उनका कोई संगठन नहीं होना । प्रत्येक संगठन का एक आदर्श होता है और उस पर पहुँचने की एक प्रणाली होती है । दूसरों से प्रेरणा की जाती है कि वे उसी आदर्श को सामने रख कर उसी प्रणाली से चलें । यदि कोई उस आदर्श या उस प्रणाली से इधर उधर होता है तो संगठन उसे सहन नहीं करता । हम चाहते हैं पक्षी उड़े । किन्तु जो मर्यादा हमने बाँध रखी है उससे आगे न जाय । सभी संगठन अपनी बाँधी हुई मर्यादा में उड़ने वालों का संरक्षण करते हैं । उन्मुक्त विहारी को कोई नहीं पूछता । जिस प्रकार कबूतर पालने वाले ऊँची उड़ान से रोकने के लिये कबूतरों के पंख तोड़ देते हैं इसी प्रकार सामाजिक संस्थाओं वाले अपने कर्मचारियों को आर्थिक या अन्य दृष्टि से पंगु बनाकर रखते हैं । उनकी बुद्धि या लेखनी को खुली छूट नहीं देते । महाकवि रवीन्द्र ने अपने 'तोते की शिक्षा' नामक रूपक में यही बात बताई है कि सभ्यता और संस्कृति का नाम लेकर खड़े होने वाले ये संगठन किस प्रकार उन्मुक्त विहारी मानव को कृत्रिमता का दास बना देते हैं । जे० कृष्णमूर्ति ने इसी लिये थियोसोफिकल सोसायटी को घमं संस्था के रूप में नहीं रहने दिया । समाज जिन्हें अनुशासन अथवा धार्मिक एवं लौकिक मर्यादा के रूप में ग्रहण करता है वे ही मानव जाति के बन्धन तथा विकास के अवरोधक तत्त्व बन जाते हैं । अभिज्ञान शाकुन्तल में प्रतीहारी कहता है—“जिस दण्ड को मैंने राजमर्यादा के रूप में ग्रहण किया था । वही

मेरा अवलम्बन बन गया है। अब उसका सहारा लिए बिना चल ही नहीं सकता।” वही बात धर्मसंस्था के संचालकों के साथ होती है। वे विशिष्ट प्रकार के वेश तथा क्रिया कलाप को इसलिए अंगीकार करते हैं कि उसके द्वारा स्वपर कल्याण कर सकें। किन्तु कुछ ही समय बाद उनके अधीन हो जाते हैं। उस समय वे वेश को धारण नहीं करते किन्तु वेश उनको धारण करता है। वेश के बाहर उनको कोई मार्ग ही नहीं सूझता।

इस प्रकार निश्चय दृष्टि से देखा जाय तो संगठन मात्र त्याज्य हैं। किन्तु निश्चय दृष्टि का उपयोग आदर्श को स्थापित करने के लिये होता है। लोक-व्यवहार उस पर नहीं चलता। शंकराचार्य ने कहा है— “सत्यानृते मिथुनीकृत्य सर्वोऽयं लौकिको व्यवहारः” अर्थात् प्रत्येक लौकिक व्यवहार में सत्य और मिथ्या का सम्मिश्रण होता है। जैन शास्त्रानुसार भी कर्मबन्ध का सर्वथा निरोध चौदहवें गुण स्थान में होता है, जो पूर्णतया निष्क्रिय अवस्था है। प्रवृत्ति मात्र के साथ पाप लगा हुआ है। इसलिये पाप और पुण्य की व्यवस्था ध्येय के आधार पर की जाती है। जो संगठन बाड़ाबन्दी या अपनी रक्षा को मुख्य ध्येय बनाकर चलता है वह सत्य के मार्ग से विचलित हो जाता है, हेय हो जाता है। दूसरी ओर जो संगठन सत्य को सामने रख कर चलता है और उसके लिए अपने अस्तित्व की भी चिन्ता नहीं करता वह पथविचलित नहीं होता। मैं आशा करता हूँ, जैन युवकसंघ इस कसौटी को सामने रख कर चलेगा। अपने अस्तित्व की रक्षा के लिए वह सत्य से विमुख न होगा।

अभी कुछ दिन पहले मैं सोजत गया था। स्थानकवासी समाज ने श्रमण संघ तथा एक आचार्य की स्थापना करके साइड़ी में जो क्रान्ति-कारी कदम उठाया था, उसकी विगतों पर विचार करने के लिये वहाँ श्रमणसंघ के मन्त्रियों का सम्मेलन हुआ। १६ में से १४ मन्त्री उपस्थित

थे। उनके अतिरिक्त २५० साधु साध्वी तथा हजारों की संख्या में श्रावक सम्मिलित हुये। अ० भा० श्वे० स्थानकवासी जैन कान्फरेंस की जनरल कमेटी भी हुई। मन्त्री मण्डल के सामने विचारणीय प्रश्न थे—साधु को ध्वनिवर्द्धक यन्त्र पर बोलना चाहिये या नहीं? भिक्षा में केले आदि फल ले सकते हैं या नहीं? पक्खी आदि तिथियों के सम्बन्ध में निर्णय करना था। साधुओं को विश्व-विद्यालय की परीक्षा में बैठने देना चाहिये या नहीं—यह भी विचारणीय था। दूर दूर से साधु पैदल विहार करके वहाँ पहुँचे और दो सप्ताह तक शास्त्रार्थ चलता रहा। भावना सभी की अच्छी थी। किन्तु एक ओर विश्व की प्रगति देखें और दूसरी ओर इस बात पर विचार करें कि हमारा साधु-समाज किन नगण्य बातों में उलझा हुआ है तो हृदय को चोट लगती है। यह युग है जिस समय विश्व में त्याग और तपस्या की भूख बढ़ रही है। क्या हमारा साधु समाज इस समय छोटी-छोटी बातों में न उलझ कर विश्व के सामने कुछ उच्च आदर्श स्थापित करेगा?

भक्त लोग अपने आराध्य की पूजा दो दृष्टियों से करते हैं। कुछ लोग मूर्ति, धर्म-ग्रन्थ या व्यक्ति विशेष को अपना आराध्य मानकर उससे आध्यात्मिक प्रेरणा प्राप्त करते हैं। वे यह अपेक्षा नहीं करते कि आराध्य उन्हें मार्ग-दर्शन करे। मार्ग तो वे स्वयं निश्चित करते हैं। अपनी उदात्त भावनाओं की जागृति के लिये किसी जड़ या चेतन को प्रतीक मान लेते हैं। दूसरे लोग ऐसे होते हैं जो अपने आराध्य से मार्ग-दर्शन की आशा भी रखते हैं। यदि वेश को साधुत्व का प्रतीक मानकर उसकी पूजा की जाती है तो वहाँ व्यक्ति के गुणों का प्रश्न नहीं रह जाता। वहाँ तो प्रत्येक वेशधारी में साधुत्व की स्थापना कर ली जाती है। किन्तु जैन समाज साधुओं की पूजा इस रूप में नहीं करता। वह तो उन्हें चारित्र्य का आदर्श तथा आध्यात्मिक नेता मानता है। उनके उपदेशों पर चलने का प्रयत्न करता है। आज भी

हमारे समाज में साधुओं का यह वर्चस्व पर्याप्त मात्रा में विद्यमान है। ऐसी दशा में उनका वैयक्तिक जीवन तथा विद्या का स्तर कितना ऊँचा होना चाहिये, दृष्टि कितनी विशाल एवं तलस्पर्शनी होनी चाहिए यह कहने की बात नहीं है। हमें समाज का ध्यान इस ओर आकृष्ट करना है।

हमारे सामने अयोग्य दीक्षा तथा बालदीक्षा का प्रश्न तो है ही, उन दीक्षितों का प्रश्न भी है जिनकी अन्तरात्मा दीक्षा लेने के बाद उस स्थिति से विद्रोह कर रही है। वे चाहते हैं, अध्ययन करें, आध्यात्मिक विकास करें। किन्तु साम्प्रदायिक यन्त्रों में इस प्रकार पिसते रहते हैं कि कुछ कर ही नहीं पाते। कुछ ऐसे भी हैं, जिनमें युवावस्था के साथ यौवन सुलभ वृत्तियाँ जाग गई हैं। वे एक सदगृहस्थ के रूप में अपना जीवन बिताना चाहते हैं किन्तु कोई मार्ग नहीं सूझता। जिस प्रकार अधिक दिन तक पिंजरे में रहा हुआ पक्षी खुले आकाश में उड़ने से डरता है उसी प्रकार वे भी बाहर के संघर्षमय जीवन से डरते हैं। जिन्होंने इस प्रकार का कदम उठाया है और मुनि जीवन को त्याग दिया है वे भी अधिकतर अच्छा आदर्श नहीं उपस्थित कर सके। ऐसी दशा में भविष्य का विचार किये बिना उन्हें मुनिव्रत छोड़ देने की सलाह देना विचारपूर्ण कदम नहीं है।

जैन परम्परा एक त्यग प्रधान परम्परा है। किन्तु हमारे मन्दिर और धर्मस्थानों में प्रायः पैसे की पूजा होती है। व्यक्ति भगवान को महापुरुष का गौरव तो देता है किन्तु उस गौरव की परिभाषा अपने जमे हुए संस्कारों के अनुसार करता है। माहात्म्य का मापदण्ड उसका अपना होता है।

बम्बई के एक मूर्तिकार ने गणेश की मूर्ति बनाई तो उसे कोट पैंट पहिनाया और मुंह में सिगरेट दे दी। श्री मश्रूवाला ने टिप्पणी करते हुये इसे देवता का अपमान बताया। किन्तु वास्तव में देखा जाय तो मूर्तिकार के मन में श्रद्धा की कमी न थी। उसके मन में यह संस्कार

जमा हुआ था कि ससार में सर्वोत्तम पुरुष अंग्रेज हैं और उनका वेश कोट और पैट है। वे सिगरेट भी पीते हैं। ऐसी स्थिति में भगवान को घोती पहिनाना उसे छोटा बनाना है। भगवान जब सर्वोत्तम पुरुष हैं तो अंग्रेज से कम नहीं हो सकते। मारवाड़ में जो सीता की मूर्ति बनती है उसे घाघरा पहना कर जेवरों से लाद दिया जाता है। गुजरात की सीता साड़ी पहिनती है। दक्षिण की सीता घोती की लाँग लगाकर फूलों से श्रृङ्गार करती है। यदि थोड़े दिनों में सीता लिपस्टिक का प्रयोग करने लगे तो यह आश्चर्य की बात न होगी। जैन समाज व्यापारी समाज है। वह धन की पूजा करता है। इसलिए वीतराग को भी हीरे के हार तथा सोने की आँगिया पहिनाना चाहता है। भगवान् की सवारी में हाथी घोड़े, सोने चाँदी के रथ तथा अन्य वैभव का प्रदर्शन किया जाता है। वस्तुतः यह भगवान् की पूजा नहीं है किन्तु भगवान् की आड़ में लक्ष्मी की पूजा है।

पंजाब विभाजन के समय जब हिन्दू मुसलमानों का झगड़ा चल रहा था तो मेरे सामने एक घटना हुई। एक बूढ़ा मुसलमान नीचे गिरा हुआ हाथ जोड़कर प्राणों की भीख माँग रहा था। एक हिन्दू ने फरसा उठा रखा था। वह नीचे आया और बूढ़े का सिर कट कर अलग हो गया। मारने वाला राक्षसी अट्टहास करता हुआ चिल्लाया—“बोल, महात्मा गाँधी की जय।” उन्हीं दिनों महात्मा गाँधी ने सांप्रदायिक विद्वेष को शांत करने के लिये अनशन कर रखा था। क्या हम उस आततायी को महात्मागाँधी का भक्त कह सकते हैं? वह गाँधी जी की जय बोलता था किन्तु गाँधी जी का भक्त न था। भक्त तो वह अपने अन्दर रहे हुए शैतान का था। उसका नाम महात्मा गाँधी रख लिया था। क्योंकि असली नाम लेकर जय बोलने में कुछ संकोच होता था। इसी प्रकार हम त्यागी भगवान् का नाम लेकर परिग्रह की पूजा करते हैं।

जैन धर्म का आविर्भाव एक आध्यात्मिक परम्परा के रूप में हुआ

है। लौकिक बातों पर उसने जोर नहीं दिया। सामाजिक संस्कारों के लिये जैन भी प्रायः वैदिक परम्परा का अनुसरण करते आए हैं। किन्तु कुछ समय से नया आन्दोलन चला है। जैन अपने को हिन्दुओं से अलग करना चाहते हैं। जैन धर्म जातिवाद को नहीं मानता। हिन्दुओं के साथ रहने के कारण उसमें भी यह बुराई घुस गई। जैन मन्दिर में अछूतों का प्रवेश रोक दिया गया। देश के स्वतन्त्र होने पर नया विधान बना और उसमें छूआछूत को समाप्त करने के लिये हिन्दू धर्म स्थानों में अछूतों को धर्मारोधन के पूरे अधिकार दे दिये गये। बुराई को स्वीकार करते समय तो हम हिन्दू बन गए, जब उसे दूर करने का प्रश्न आया तो अलग हो रहे हैं। अन्य कई दृष्टियों से यह समस्या विचारणीय है।

अभी अभी कुछ लोगों ने जैन विवाह पद्धति निकाली है। यदि नवीन युग के अनुसार वह कोई आदर्श विवाह पद्धति हो तो यह अभि-नन्दनीय है। किन्तु उसी प्रकार अग्नि की प्रदक्षिणा तथा अन्य बातें कायम रखते हुए केवल हिन्दू देवताओं के स्थान पर जैन देवता रख देने से काम नहीं चलेगा। जैन देवता तो गार्हस्थ्य जीवन के त्याग का आशीर्वाद दे सकते हैं। वे विवाह की सफलता के लिए कैसे आशीर्वाद देंगे। उन्हें ऐसी बातों में घसीटना आदर्श से गिराना है। आध्यात्मिक विचारधारा को लौकिक बातों में लाना और उसके आधार पर एक अलग जाति बनाने की चेष्टा करना जैन परम्परा के लिए लाभदायक नहीं हो सकता। जैन धर्म का कल्याण इसी में है कि वह चरित्र को उन्नत करने के लिए एक विचारधारा के रूप में प्रेरणा देता रहे। उसे जातिवाद में संकुचित न होने देना चाहिये। हमें यह उदारता रखनी चाहिये कि एक ब्राह्मण या मुसलमान भी अपने को जैन कह सके।



बुद्ध और छाकटा | ३

बुद्ध का अर्थ है वह व्यक्ति जो अपने स्वार्थ को सिद्ध करना नहीं जानता या जान-बूझकर उपेक्षा करता है। यह शब्द बुद्ध का अपभ्रंश है। भगवान बुद्ध ने यह उपदेश दिया था कि अपना स्वार्थ छोड़ कर भी दूसरे की भलाई करनी चाहिए। महायान परम्परा में यहाँ तक स्वीकार किया गया है कि भगवान प्राणियों का उद्धार करने के लिए निर्वाण का सुख भी छोड़ देते हैं। वहाँ परोपकार को निजी सुख से श्रेष्ठ माना गया है। महाकरुणा के सिद्धान्त का विकास इसी मान्यता को लेकर हुआ है। किन्तु दुनियाँ उस व्यक्ति को बुद्धिमान समझती है जो अपना स्वार्थ सिद्ध करना जानता है। इसके विपरीत जो उसकी उपेक्षा करता है वह दुनियाँ की दृष्टि में मूर्ख है। फलस्वरूप बुद्धू शब्द का अर्थ भी मूर्ख हो गया।

दूसरा शब्द छाकटा है। इसका अर्थ है वह व्यक्ति जो भले बुरे समस्त उपायों द्वारा अपने स्वार्थ को सिद्ध करना चाहता है। यह शाक्त का अपभ्रंश है जिसका अर्थ है शक्ति का उपासक। बुद्ध के उपासक ज्ञानमार्गी रहे हैं। उन्होंने विचार करके देखा कि सब कुछ शून्य है। फिर आसक्ति या तृष्णा कैसी? दूसरी ओर शक्ति के उपासक अपने स्वार्थ को सिद्ध करने के लिए छल-प्रपञ्च आदि प्रत्येक उपाय काम में लाते रहे हैं। दोनों शब्द दो विचारधाराओं का प्रतिनिधित्व करते हैं। धर्म-संस्था प्रथम को आदर्श मानती हैं और राज्य-संस्था द्वितीय को।

यदि किसी माता से पूछा जाय कि वह अपनी सन्तान को बुद्ध बनाना चाहती है या छाकटा ? तो वह क्रुद्ध होकर देखने लगेगी । और इसे अपना अपमान या मजाक समझेगी । किन्तु इन शब्दों के स्थान पर यदि हम उससे पूछें कि वह अपनी सन्तान को संत बनाना चाहती है या नीतिकुशल, तो वह कहेगी दोनों । अन्तस्तल को देखा जाय तो वह चाहती है कि उसकी सन्तान अपने स्वार्थ का पूरा ध्यान रखे । उसे किसी प्रकार नष्ट न होने दे । साथ ही दुनियाँ में उसकी बदनामी भी न हो । उसे भला कहा जाय अर्थात् वह चाहती है कि उसका पुत्र बाहर से संत दिखाई दे और अन्दर से स्वार्थी एवं नीति-कुशल । दूसरे शब्दों में ऊपर से बुद्ध और भीतर से छाकटा हो ।

सफल और असफल व्यक्तियों में परस्पर छींटाकशी चलती रहती है । असफल व्यक्ति सदाचार या चरित्र के आवरण में अपनी अयोग्यता को छिपाने का प्रयत्न करते रहते हैं और इसके लिए सफल व्यक्तियों पर दुराचारी होने का आरोप लगाते रहते हैं । दूसरी ओर सफल व्यक्ति अपने भ्रष्टाचार को छिपाने के लिए ऐसे वर्ग को प्रसन्न करते रहते हैं जिनके हाथ में लोकमत है । उदाहरण के रूप में 'काले बाजार' द्वारा करोड़पति बनने वाला सेठ साधुओं और लोकनायकों का समर्थन प्राप्त करना चाहता है । इसके लिए उन्हें आर्थिक सहायता देता है और अपने भ्रष्टाचार पर पर्दा डाल देता है । असफलवर्ग उसे दुराचारी, बेईमान या छाकटा कहता है । दूसरी ओर वह उस वर्ग को बुद्ध या मूर्ख समझता है ।

एक व्यक्ति स्वाभिमान की रक्षा के लिये भूखा मरना पसन्द करता है किन्तु दूसरे के सामने हाथ नहीं फैलाता । दूसरा खुशामद करके अपना स्वार्थ सिद्ध कर लेता है । पहले की दृष्टि में दूसरा छाकटा है और दूसरे की दृष्टि में पहला बुद्ध ।

एक व्यापारी अधिकारी को रिश्वत देकर औद्योगिक सुविधायें प्राप्त कर लेता है जनता तथा राज्य को मिलावट की वस्तु बेचने में सफल हो जाता है और करोड़पति बन जाता है। दूसरी ओर ईमानदारी से व्यापार करने वाला तेल नमक बेचता है। उस पर भी आये दिन छोटे मोटे अधिकारियों की फटकारें सुननी पड़ती हैं। पहले का सर्वत्र सम्मान होता है। धार्मिक तथा सामाजिक सम्मेलनों में उसे अध्यक्ष बनाया जाता है। उसकी सम्पत्ति को पूर्व-जन्म के पुण्य का फल बताकर सराहा जाता है। दूसरी ओर दरिद्र दुकनदार को पूर्व-जन्म का पापी या भाग्यहीन कहा जाता है।

एक युवक अधिकारी को रिश्वत देकर तथा उसकी खुशामद करके योग्यता न होने पर भी नौकरी प्राप्त कर लेता है और उसी उपाय द्वारा उन्नति करता चला जाता है। दूसरी ओर योग्यता होने पर भी ऐसा न करने वाला खाली बैठा रहता है और परिवार के लिए बोझ बन जाता है। पहला जब गाँव में आता है, तो सभी उसका स्वागत करते हैं, प्रयोजन न होने पर भी उसकी प्रशंसा करते रहते हैं। दूसरे का सर्वत्र अपमान होता है। यह विचारणीय है कि सफल किसे कहा जायगा ? पहले को या दूसरे को।

एक स्त्री अपनी लज्जा और सतीत्व की रक्षा के लिए किसी दूसरे पुरुष से श्रात करना पसन्द नहीं करती। संतोषपूर्वक पति की सेवा और बच्चों के पालन-पोषण में लगी रहती है। दूसरी अधिकारियों से मिलकर अपने पति के लिए ऊँची नौकरी प्राप्त कर लेती है। सार्वजनिक कार्यक्रमों एवं संगठनों में भाग लेकर नेता बन जाती है। घर में बंद रहने वाली स्त्रियाँ उसके चरित्र पर आक्षेप करती हैं और वह उन्हें बुद्धू समझती है।



ये विहम्बनाथें

| ४

वाराणसी में विश्वनाथ के प्राचीन मन्दिर के पास एक क़आ है जिसे ज्ञान-वापी कहते हैं। उसी के अहाते में एक विशाल मस्जिद है जिसकी दीवारें उसके मन्दिर होने की सूचना देती हैं। कहा जाता है, पहले वह विश्वनाथ का विशाल मन्दिर था। औरंगजेब ने उसे तोड़कर मस्जिद बना दिया और मूर्ति को कुंए में फेंक दिया। यात्री उस कुएं का भी दर्शन करते हैं। पुजारी उसकी कथा सुनाते हुए कहते हैं जब यवनों ने मन्दिर को अपवित्र कर दिया तो भगवान् विश्वनाथ कुएं में छलांग लगा गये। जो लोग एक और यह कहते हैं कि भगवान के एक संकेत पर समस्त ब्रह्मांड काँप उठता है, वे ही यवन-सम्राट की तलवार के सामने उनके भाग जाने की कथा सुनाते हुए नहीं हिचकते। पता नहीं उनकी दृष्टि में भगवान का कौन सा रूप सच्चा है, और कौन सा झूठा है।

उसी वाराणसी में बाबा कीनाराम का अखाड़ा है। वे वाममार्गी अधोरी साधु थे और तुलसीदास के समकालीन थे। उनके नाम से बहुत-सी चमत्कारपूर्ण कहानियाँ प्रचलित हैं। वे मदिरा-माँस आदि पंचमकार का सेवन करते थे और तुलसीदास शुद्ध वैष्णव थे। बाबा कीनाराम की तुलसीदास से छेड़छाड़ चलती रहती थी। अखाड़े पर प्रतिवर्ष भादों में एक मेला लगता है। नगर की सारी वेश्यायें वहाँ आकर नाचती हैं और गीत गाती हैं। कहा जाता है उन्हें बाबा कीनाराम का अभिशाप है कि जो उन दिनों वहाँ जाकर अपने संगीत एवं नृत्य का प्रदर्शन नहीं करेगी उसका घन्धा नहीं चलेगा। बहुत

से अघोरी अब भी मदिरा में चूर होकर वहाँ पड़े रहते हैं और सबके आगे बैठकर संगीत एवं नृत्य का आनन्द लेते हैं। अन्त में अखाड़े के महन्त प्रत्येक वेश्या को आशीर्वाद देते हैं कि वह सुखी रहे और उसका धन्धा खूब चले।

मदिरा पीकर वेश्यावृत्ति के लिये आशीर्वाद देने वाले इन महन्तों को साधकों की कोटि में रक्खा जायगा या किसी अन्य कोटि में। भारत की धार्मिक परम्पराओं का अध्ययन करने वाले विद्यार्थी के लिए इस उलझन का निर्णय करना असम्भव नहीं तो कठिन अवश्य है।

महाकवि शुद्रक द्वारा विरचित मृच्छकटिक नाटक में एक दृश्य आता है। शर्विलक नाम का चोर रात में चोरी करने के लिये जाता है और सेंव लगाने से पहले इष्ट देवता से सफलता की प्रार्थना करता है। सफलता से उसका अभिप्राय है घर में अच्छा माल हाथ लगे और जब तक उसे लेकर वह अपने स्थान पर न पहुँच जाय, न घर वाले जों, न पुलिस को पता लगे।

उसका यह विश्वास है कि ईश्वर चोरों का साथ देता है। फिर भी उसके ईश्वर-बने रहने में कोई आपत्ति नहीं आती।

राजस्थान, गुजरात, मध्य-प्रांत, उत्तर प्रदेश, बिहार, विन्ध्य प्रदेश आदि समस्त भारत में अब भी ऐसी जातियाँ हैं जो चोरी को अपना परंपरागत व्यवसाय और धर्म समझती हैं। रात को जब इसके लिये निकलते हैं तो सर्वप्रथम मंदिर में जाकर देवता की मनौतियाँ और सफलता के लिए आशीर्वाद की प्रार्थना करते हैं। उनका विश्वास है कि भगवान चोरी में भी सहायता करते हैं। जो उनका न्यायपूर्ण धन्धा है।

कलकत्ते में एक मारवाड़ी ब्राह्मण भोजनालय चलाता था। एक बार वहाँ कोई पंजाबी सज्जन आकर ठहरे। सुबह उठे तो सिगरेट पीने के लिए दियासलाई न मिली। पास ही ब्राह्मण के चौके में चले

गये और एक कौने में रखी दियासलाई उठाली। सिगरेट सुलगा कर जब उसे वापिस रखने लगे तो ब्राह्मण देवता आ पहुँचे और जोर से चिल्लाकर बोले—बाबूजी ! यह क्या कर रहे हैं। मेरा सारा चौका भ्रष्ट हो गया। सारी चीजें नये सिरे से बनानी होंगी। पंजाबी सज्जन घबड़ा गए। उन्हें आश्चर्य भी हुआ। ब्राह्मण देवता अपनी कहानी सुनाने लगे—बाबूजी ! मैंने सारे काम किये। जूआ खेला, शराब पी और वेश्या-गमन भी किया। किन्तु अपना धर्म नहीं छोड़ा।

पंजाबी सज्जन की समझ में नहीं आया कि उसके लिए धर्म की क्या परिभाषा है।

वाराणसी में एक बहुत बड़े वैद्य थे। राजा-महाराजा तथा सेठ साहूकारों का इलाज किया करते और दक्षिणा में हजारों रुपये वसूल करते। साठ वर्ष की आयु में उन्होंने चौदह वर्ष की लड़की से विवाह किया। यह उनकी सातवीं पत्नी थी। जब कोई निर्धन रोगी उनके पास पहुँच जाता तो सर्व-प्रथम प्रश्न दक्षिणा का होता था। वह अभागा रोगी गिड़गिड़ाने लगता भगवन् मैं तो गरीब हूँ। सब तरफ से निराश होकर आपकी शरण में आया हूँ। तो वे उत्तर देते—जब भगवान् ने तुम पर कृपा नहीं की तो मैं कृपा क्यों करूँ ?

गरीब पर कृपा करना उनकी दृष्टि में भगवान् से विरोध करना था।

महाकवि कालीदास के अभिज्ञान शाकुन्तल में दुष्यन्त कण्व ऋषि के आश्रम में पहुँचता है और शकुन्तला की ओर आकृष्ट हो जाता है। वह उसके साथ विवाह करना चाहता है। इस के लिए कण्व के प्रत्या-गमन की प्रतीक्षा तक नहीं करता। मन में उधेड़ बुन उत्पन्न होती है। कण्व ऋषि ब्राह्मण हैं और ब्राह्मण कन्या के साथ क्षत्रिय का विवाह शास्त्रों के प्रतिकूल है। किन्तु दूसरे ही क्षण वह निर्णय कर

लेता है—निसन्देह इस कन्या का विवाह क्षत्रिय के साथ हो सकता है—क्योंकि मेरा मन इसमें अटका हुआ है। सत्पुरुषों को जहाँ सन्देह होता है वहाँ अन्तरात्मा की ध्वनि ही प्रमाण है।

दुष्यन्त के कई अन्य रानियाँ थीं। फिर भी एक तापस कन्या को देखकर अधीर हो उठता है और गान्धर्व विवाह के पश्चात् जब अपनी राजधानी में पहुँचता है तो उसे भूल जाता है। यहाँ तक कि शकुन्तला के सामने आने पर भी अपनी प्रतिष्ठा के भय से उसे नहीं पहचानता निश्चित है कि उसका प्रेम पाशविक वासना एवं स्वार्थ से परिपूर्ण था फिर भी वह अपने को सत्पुरुष मानता है और मन की आवाज को परमात्मा का संकेत समझता है। यदि सभी युवक इसी प्रकार निर्णय करने लगे तो मुश्किल हो जाय।

महाकवि कालिदास की ही अन्य कृति मालविकाग्नि मित्र नाम का नाटक है। उसके नायक ऐतिहासिक राजा अग्नि मित्र की दो रानियाँ थीं—धारिणी और इरावती। राजा का पुत्र सेनापति के रूप में युद्ध पर गया हुआ था। इससे विदित होता है कि उसकी आयु प्रौढ़ रही होगी। फिर भी वह दासी के रूप में आई हुई मालविका नाम की कन्या से प्रेम करने लगता है। किन्तु बड़ी रानी धारिणी से डरता है। अन्त में पुत्र के विजय समाचार सुनकर रानी धारिणी प्रसन्न हो जाती है। दूसरी ओर यह भी ज्ञात हो जाता है कि मालविका उच्च-वंश की राजकुमारी है। परिणामस्वरूप स्वयं राजा के साथ उसका विवाह कर देती है। उस समय वह कहती है—“जिस प्रकार बड़ी-नदी छोटी-छोटी नदियों को समुद्र तक पहुँचा देती है, इसी प्रकार पति प्राणा-पत्नी, अन्य स्त्रियों को अपने पति के पास पहुँचा देती है। नैतिकता का यह आदर्श कहाँ तक भारतीय संस्कृति की गौरव-वृद्धि करता है, यह विचारणीय है।

प्राचीन समय की बात है। चीन के एक नागरिक ने अपनी माता को पीटा। पत्नी ने पति की सहायता की। राजाज्ञा से दोनों को प्राण-

दंड मिला। इतना ही नहीं, परिवार के मुखिया को भी मौत की सजा मिली। निकटतम पड़ोसियों में प्रत्येक को अस्सी कोड़े लगाये और देश निकाला दे दिया गया। विश्वविद्यालय के जिन विद्यार्थियों के साथ उस युवक ने उपाधि ग्रहण की थी उन सब के कोड़े लगाये गये और देश निकाला दे दिया गया। उसके दादा, चाचा तथा दो बड़े भाइयों को भी प्राणदण्ड मिला। गाँव के चौधरी और मुख्य शासक को पद-च्युत कर दिया गया। पत्नी की माँ के मुँह पर चार बड़े-बड़े अक्षर गुदवा दिये गये जिनसे यह प्रकट होता था कि उसने अपनी पुत्री को शिक्षा देने में उपेक्षा की, और उसे निर्वासित कर दिया गया। उसका पिता विश्व-विद्यालय का स्नातक था। उसे उच्चतर शिक्षा प्राप्त करने से रोक दिया गया और देश निकाला दे दिया गया। अपराधियों के पुत्र का नाम बदल दिया गया और उनकी जमीन को कुछ समय के लिये बिना जोते रखा गया।

इसी प्रकार इसरायल की एक घटना है :—जेरिको ने अपनी कुछ चीज येहोवा (इसरायल के भगवान्) को चढ़ाई थी। अर्चन ने उनमें से कुछ वस्तुयें चुरालीं। उन्हीं दिनों इसरायल युद्ध में हार गया। जब अर्चन का उपर्युक्त कार्य प्रकट हुआ तो उसे गिरफ्तार कर लिया गया। उसके पुत्र, पुत्रियों, बँलों, गधों और भेड़ों को गिरफ्तार कर लिया। सबको बाहर ले गये। उसकी पगड़ी, आभूषण, रहने के तम्बू, विस्तर और सारी सम्पत्ति को भी साथ ले गये। इसरायल जनता ने उसे पत्थरों से मारा और सामान को आग लगा दी।

उपर्युक्त घटना को सुनकर हमें हंसी आती है और उन पर दया भी जिन्हें इस क्रूरता का शिकार होना पड़ा है। किन्तु यदि हम उस मनोवृत्ति का अध्ययन करें जो इसके पीछे काम कर रही है तो आश्चर्य न होगा। वह मनोवृत्ति अब भी जन-साधारण में घर किये हुए है।

पिता के अपराध का बदला पुत्र से लिया जाता है। एक शासक का दूसरे शासक के साथ वैमनस्य हा जाता है, उसका फल प्रजा को भुगतना पड़ता है। इतना ही नहीं, वे दोनों मर जाते हैं किन्तु राज्यों में बैर पीढ़ियों तक चलता रहता है और जातीय द्वेष का रूप धारण कर लेता है।

यहूदियों के किसी पूर्वज ने ईसा को फांसी दी थी। उस बात को २००० वर्ष बीत गये किन्तु बैर की परम्परा अभी तक चली आ रही है। भारत में हिन्दू और मुसलमानों का द्वेष भी उसी प्रकार का है। परम्परा और रूढ़ियों का यह कुप्रभाव मानव चेतना को ढके हुये हैं। वह ज्यों-ज्यों कम होगा, मनुष्य अपने आप को समझेगा और घर्म, राष्ट्रीयता आदि के नाम पर खड़ी की गयी परिधियों को लांघकर परस्पर प्रेम करना सीखेगा।

१९४७ के सितम्बर की बात है। जनता साम्प्रदायिकता के उन्माद में पागल हो रही थी। महेन्द्रगढ़ (पंजाब) के पास सतनाली नामक स्टेशन की घटना है। एक सफेद दाढ़ी वाला बूढ़ा जमीन पर पड़ा प्राणों की भीख मांग रहा था। ऊपर एक उन्मत्त का खून से भरा फरसा तना हुआ था। एक ही क्षण में फरसा नीचे आया और बूढ़े की गरदन कट कर अलग हो गई। वह उन्मत्त उल्लास में आकर चिल्लाया—“बोल, महात्मा गांधी की जय”। गांधीजी ने उन दिनों हिन्दू और मुसलमानों में प्रेम स्थापित करने के लिये आमरण अनशन कर रखा था। उसका जयनाद सुनकर मेरे मन में प्रश्न उठा—क्या यह गांधी जी का भक्त है? उत्तर मिला—भक्त तो वह शैतान का है जो उसके अन्दर दानव बनकर नाच रहा है। किन्तु इन्सान होने के कारण उसे शैतान की जय बोलते हुए झिझक होती है। इसलिये उसने शैतान का नाम महात्मा गांधी रख लिया।

भगवान महावीर की सवारी निकल रही थी। उस अपरिग्रही की

जिसने लंगोटी को भी परिग्रह मानकर छोड़ दिया। मूर्ति का सिंहासन सोने का बना हुआ था। गले में मोतियों के हार थे। स्थान-स्थान पर हीरे और जवाहिरात चमक रहे थे। रक्षा के लिये आगे-पीछे और दाँयें बाँयें सिपाही चल रहे थे, जिनके हाथों में संगीन चढ़ी बन्दूकें थीं। सोने और चाँदी के आभूषणों से सुसज्जित हाथी तथा घोड़ों की लम्बी कतार आगे-आगे चल रही थी। एक किनारे पटरी पर खड़ा सवारी देख रहा था कि सेठजी की दृष्टि मुझ पर पड़ी, मुस्कुराते हुए बोले—“आइये प्रोफेसर साहब, भगवान की सवारी में आइये।” मेरे मन में प्रश्न उठा—‘सेठजी ! यह सवारी भगवान् की है या आपकी ? भगवान् अहिंसा के आदर्श थे, किन्तु इस सवारी में अहिंसा कहीं दिखाई नहीं दी। भगवान् अपरिग्रही थे, किन्तु वे भी सवारी में नजर नहीं आए। यह जो सोने के सिंहासन पर मूर्ति बैठी है, वह तो परिग्रह और हिंसा का प्रतीक दिखाई देती है।

हिन्दू विश्व-विद्यालय से पश्चिम में लगभग पाँच मील गंगा के तट पर त्रिशूल टंकेश्वर महादेव का मंदिर है। कहा जाता है उन्हीं की त्रिशूल पर काशी नगरी ठहरी हुई है। एक दिन घूमते हुये वहाँ पहुँच गया। मन्दिर के पुजारी ने अपनी दास्तां शुरू की—‘बाबूजी, मैं इसी गाँव में रहता हूँ और इस मन्दिर का पुजारी हूँ। इसमें जो भगवान् हैं उनके त्रिशूल पर सारी काशी टिकी हुई है। किन्तु अब हालत देखिये। तीन दिनों से भगवान् भूखे हैं। उन्हें भोग नहीं लगा। कई-कई दिन तक बिना नहाये रह जाते हैं।’ पुजारी का जो अभिप्राय था उसे बताने की आवश्यकता नहीं है। किन्तु वह अपनी बात को जिन शब्दों में रख रहा था, उन्हें सुनकर हँसी सी आ रही थी। वह अपनी भूख मिटाने के लिये सर्वशक्तिमान, भगवान् को भूखा बता रहा था। वह समझ रहा था कि एक भक्त की भूख पर दूसरे भक्त के पसीजने में सन्देह है। किन्तु जब यह सुनेगा कि भगवान् भूखे हैं तो अवश्य दया जायेगी।

बम्बई के एक मूर्तिकार ने गणेश की मूर्ति बनाई। उसे कोट और पैट पहिना दिये। गले में टाई बाँध दी और मुँह में सिगरेट दे दी। श्री मश्रूवाला ने उस पर टिप्पण लिखे कि यह देवता का अपमान है। प्रत्येक देवता को उसके परम्परागत शास्त्रीय रूप में ही उपस्थित करना चाहिये। अब हम जरा मूर्तिकार के मानस का अध्ययन करें। उन दिनों अँग्रेजी राज्य अपने उत्कर्ष पर था। मूर्तिकार यह मानता था कि दुनियाँ में सर्वश्रेष्ठ पुरुष अँग्रेज है जिसके राज में कभी सूरज नहीं छिपता। उसने अपने देवता को सर्व-श्रेष्ठ एवं शक्तिशाली पुरुष का रूप देना चाहा। मन में आया कि गणेश को घोती पहिनाकर बनिया बनाना महान् देवता का अपमान होगा। जिन्होंने शास्त्रीय रूप स्थिर किया है उन्होंने भी गणेश को कभी देखा तो नहीं। उनके समय में श्रेष्ठ व्यक्ति जो वेश पहनते थे वही देवता को दे दिया। क्या नये युग का नया भक्त अपने देवता को अपने युग के सर्वश्रेष्ठ पुरुष की वेश भूषा में उपस्थित नहीं कर सकता? क्या यह भक्ति नहीं है? पत्थर या मिट्टी की मूर्ति में देवत्व का आरोप किया जाता है। इसका अर्थ है हमारी कल्पना में जो सर्वश्रेष्ठ गुण हैं उनका आरोप करके यथाशक्ति प्रदर्शन का प्रयत्न। अगर आर्य देवता की नाक उभरी हुई है तो मँगोल देवता की चपटी। दोनों जातियाँ अपनी-अपनी धारणा के अनुसार सौन्दर्य को उपस्थित करती हैं। यही बात उस मूर्तिकार के लिए भी है। फरक इतना ही है कि वह अँग्रेज को सर्वश्रेष्ठ पुरुष मानता है और उसकी वेशभूषा को आदर्श वेशभूषा। राष्ट्र-भक्त भारतीय इस बात को मानने के लिये तैयार नहीं होगा, किन्तु किसी के मानस पर इस प्रकार का नियन्त्रण नहीं किया जा सकता।

क्राइस्ट के प्रति सम्मान प्रकट करने के लिये उनका जन्म दिन मनाया जाता है। किन्तु उस दिन मदिरा पी जाती है। अश्लील नृत्य होते हैं। बड़े-बड़े होटलों में सारी रात विलासिता में बिताई जाती है। कहा नहीं जा सकता यह क्राइस्ट का सम्मान है या अपमान।

विश्व संस्कृत-परिषद् का अधिवेशन हुआ। युक्त प्रान्त के राज्यपाल श्री क० मा० मुंशी अध्यक्ष थे और राष्ट्रपति ने उद्घाटन किया। भारत के कोने-कोने से धुरन्धर विद्वान् सम्मिलित हुये, नवीन शैली के और प्राचीन शैली के भी। काशी, दरभंगा तथा कई अन्य स्थानों के नरेश तथा बड़े-बड़े जमींदार सामारोह की शोभा बढ़ा रहे थे। केन्द्रीय तथा युक्त प्रान्तीय सरकार के बड़े-बड़े अधिकारी तथा वावदूकों ने संस्कृत भाषा तथा भारत की प्राचीन संस्कृति के गीत गाये। ऐसा प्रतीत होता था जैसे भोज का दरबार लगा हो। पंडितों के पैर जमीन पर नहीं पड़ रहे थे, परन्तु इसमें संस्कृत के प्रति श्रद्धा कितनी थी और वैयक्तिक स्वार्थ कितने यह नहीं कहा जा सकता। राष्ट्रपति ने उद्घाटन में संस्कृत भाषा का महत्व बताया और उसके प्रचार की जोरदार अपील की। काशी तथा अन्य स्थानों के ब्राह्मण-पंडित प्रसन्न हो गये। कुछ दिनों पहले जिन्होंने गौरांग वायसराय का यज्ञ मण्डप में वेदमंत्रों द्वारा आह्वान किया था और सारा जीवन महात्मा गांधी तथा कांग्रेस को गाली देने में बिताया था, उनके मुंह से भी कांग्रेस सरकार की प्रशंसा होने लगी।

काशी की प्राचीन प्रणाली के अनुसार शास्त्र-सभा हुई। लगभग सवा दो सौ पंडित सम्मिलित हुये। राष्ट्रपति ने उनके चरण धोये, तिलक किया और ग्यारह-ग्यारह रुपये दक्षिणा दी।

पण्डितों ने उन्हें परम श्रद्धालु तथा आस्तिक शिरोमणि कह कर आशीर्वाद दिये।

कुछ दिन पश्चात् वे अजमेर गये और दरगाह में ख्वाजा पीर के दर्शन किये मुसलमानों ने उन्हें सिरोपाव देकर सम्मानित किया। इसी प्रकार वे गुरुद्वारे और बौद्ध-मन्दिर में भी गये।

धर्म का मुख्य आधार श्रद्धा है और वह किसी एक देवता के प्रति ही हो सकती है। अनेक देवताओं को मानने वाला किसी के प्रति सच्चा

नहीं होता । फिर भी राष्ट्रपति को यह रूप अपनाना पड़ा । समझ में नहीं आता कि इसे भक्ति कहा जाय या मिथ्या प्रदर्शन ।

जब संस्कृत के प्रचार का प्रश्न आया और एक विशाल सभा में घोषणा की गई कि भारत में सभी के लिए संस्कृत पढ़ना अनिवार्य कर दिया जाय, तो काशी के पण्डितों को डर लगा कि अब तो स्त्री और शूद्रों को भी संस्कृत पढ़ाई जायगी । उन्होंने कहा—इसमें “भारतीय-नाट्य प्रणाली मनुसृत्य” जोड़ दिया जाय । अर्थात् संस्कृत नाटकों में भाषा सम्बन्धी जो व्यवस्था है, उसका अनुसरण करते हुए संस्कृत का प्रचार किया जाय । संस्कृत नाटकों में राजा, राजमन्त्री, पुरोहित आदि पढ़े लिखे संभ्रान्त कुल के पुरुष ही संस्कृत बोलते हैं । राजमहिलाएँ तथा अन्य पात्र विविध प्रकार की प्राकृत । पण्डितों का यह संशोधन दूसरे शब्दों में उन्हें इस अधिकार से वञ्चित करना था । यदि पंडित वर्ग अपनी इच्छा को स्पष्ट शब्दों में रखता तो संकुचित होने पर भी उन्हें निष्ठावान् कहा जा सकता था । किन्तु अपने मन्तव्य को घुमा-फिराकर प्रस्तुत करना उनकी कायरता को प्रकट करता है ।



मूर्खता की परम्परा

| ५

प्रत्येक धार्मिक परम्परा ने शास्त्रीय ज्ञान को प्रथम भूमिका के रूप में आवश्यक माना है। सत्य का साक्षात्कार ऊँची भूमिका है, किन्तु उस पर पहुँचने के लिए शास्त्र की सहायता आवश्यक है। उपनिषदों में श्रवण, मनन और निदिध्यासन के रूप में साधना का क्रम प्रस्तुत किया गया है। इसका अर्थ है सर्व प्रथम शास्त्र पढ़कर या गुरु से सुनकर सत्य को समझना चाहिये। उसके पश्चात् मनन या ऊहापोह करना चाहिए। जब जँच जाय कि बात ठीक है तो उसे जीवन में उतारने के लिए निदिध्यासन करना चाहिए, जिसका पर्यवसान साक्षात्कार है। जैन धर्म में इन भूमिकाओं को मतिज्ञान और श्रुतज्ञान के रूप में उपस्थित किया गया है। साक्षात्कार या कैवल्य हो जाने पर शास्त्रीय ज्ञान की आवश्यकता नहीं रहती। उसे तुर्यावस्था कहा जाता है जहाँ साधक समस्त विधि-विधानों और मर्यादाओं से ऊपर उठ जाता है। भारतीय साधना में इस अवस्था का बहुत गुणगान है।

किन्तु इसका प्रश्रय प्राप्त करके एक ऐसा वर्ग खड़ा हो गया जो शास्त्रीय ज्ञान तथा जीवन शुद्धि से सम्बन्ध रखने वाली समस्त मर्यादाओं की निंदा करने लगा। वास्तव में देखा जाय तो वह अपनी अज्ञानता और आचरणहीनता को ढकना चाहता था, उसी के लिये विद्या एवं चरित्र के विरुद्ध बातें बनाकर साधारण जनता को बरगलाने लगा। भारत में इस समय भी ऐसे अनेक व्यक्ति हैं जो किसी गुण के न होने पर भी हजारों अनुयायियों द्वारा पूजे जाते हैं वे तरह-तरह की

बातें बनाकर विद्या तथा चरित्र संपन्न व्यक्तियों के विरुद्ध सर्व-साधारण में घृणा उत्पन्न करते रहते हैं ।

ब्राह्मण काल में धर्म का निर्णय वेद की आज्ञाओं के आधार पर किया गया । मानव-बुद्धि का यह अधिकार छिन गया कि स्वयं सोचकर निर्णय कर सके । आध्यात्मिक क्षेत्र में इसकी प्रतिक्रिया उपनिषदों में हुई । उन्होंने आत्म-तत्त्व के विषय में जिज्ञासा करने और सोचने का प्रत्येक साधक को अधिकार दे दिया । इतना ही नहीं साक्षात्कार के लिए इसे अनिवार्य समझा । नैतिक क्षेत्र में यह प्रतिक्रिया जैन और बौद्ध-धर्म के रूप में हुई । उन्होंने सत्य, अहिंसा आदि नैतिक सिद्धांतों को पुण्य-पाप का आधार माना । फिर भी एक वर्ग ऐसा बना रहा जो पुस्तक विशेष की आज्ञाओं को सर्वोपरि स्थान देता रहा । इतना ही नहीं उसने सर्वसाधारण को उस पुस्तक के अध्ययन से भी वंचित कर दिया, जिससे उसकी बात को बिना सोचे-समझे मान लिया जाय ।

क्रमशः वेद की ऋचाओं में वर्णित देवी-देवताओं के विषय में भी सन्देह होने लगे । यह पूछा जाने लगा इन्द्र है या नहीं ? और यदि है तो क्या उसका वही रूप है जो ऋचाओं में वर्णित है ? इन सन्देहों को दबाने के लिए एक नई परम्परा अस्तित्व में आई । उसने कहा मंत्रों का कोई अर्थ नहीं है । यास्क (ई० पू० ८००) ने अपने निरुक्त में इस मत का उल्लेख किया है । साथ ही यह कहा जाने लगा कि जो व्यक्ति उनके अर्थ ढूँढ़ने का प्रयत्न करता है वह पाप का भागी होता है ।

जैन तथा बौद्ध परंपराओं ने उन अतीन्द्रिय तत्वों का खंडन किया जो बुद्धिगम्य न होने पर भी वेदों के नाम पर जन-मानस को घेरे हुए थे । किन्तु समय बीतने पर वे स्वयं उन बातों की कल्पना करने लगे । अहिंसा, ब्रह्मचर्य तथा अपरिग्रह को महत्व देने वाला जैनधर्म इनके फल के रूप में हिंसा, व्यभिचार तथा परिग्रह का प्रलोभन देने लगा । कहा जाने लगा जो व्यक्ति इस जन्म में ब्रह्मचर्य का पालन करता है

उसे स्वर्ग में हजारों की संख्या में अप्सरायें मिलती हैं। मनुष्य लोक में भी वह वासुदेव या चक्रवर्ती का पद प्राप्त करता है। वासुदेव की ३२००० रानियाँ होती हैं और चक्रवर्ती की ६४०००। इसी प्रकार वर्तमान जीवन में दान या अपरिग्रह की आराधना से अगले जन्म में साम्राज्य या रत्नों से भरे हुए विमान मिलते हैं।

बौद्ध धर्म अपने प्रारम्भ काल में बुद्धिवादी रहा है। भगवान बुद्ध ने अपने धर्म को (एहि पस्सिक) बताया है जिसका अर्थ है आओ और देखो। उनका कहना था—मेरी किसी बात को केवल भक्ति या आदर के कारण स्वीकार मत करो, उसकी परीक्षा करो और ठीक जंचे तो मानो। महायान में तर्क शास्त्र अपनी सीमा पर पहुँच गया। नागार्जुन, दिङ्नाथ, धर्मकीर्ति आदि आचार्यों का तर्क जगत में अब भी मूर्धन्य स्थान है किन्तु इसी महायान की शाखा के रूप में जिस भक्तिवाद का जन्म हुआ, उसने बुद्धि को सर्वथा निर्वासित कर दिया। शाश्वत बुद्धों और स्वर्गों की कल्पना की गई और उनके आधार पर विचित्र कहानियाँ रची गईं। सद्धर्मपुंडरीक में आया है कि एक स्त्री ने बुद्ध की भक्ति की तो उनकी कृपा के फल स्वरूप वह पुरुष बन गई और प्रधान शिष्यों में सम्मिलित हो गई।

आठवीं शताब्दी के पश्चात् तंत्र साधना का विकास हुआ। शैव, शाक्त, बौद्ध, वैदिक, जैन, वैष्णव आदि प्रत्येक परंपरा ने अपने-अपने तंत्रों की रचना की। उनमें साधना पद्धति प्रायः एक-सी है किन्तु आराध्य के रूप में अपने-अपने देवता को रखा। तंत्र-साहित्य का अध्ययन करने पर पता चलता है कि वहाँ भी प्रथम भूमिका के रूप में नैतिक नियमों को स्वीकार किया गया है। साथ ही उच्च साधना के लिए उन्हें छोड़ने को कहा गया है। तंत्र एक प्रकार की अद्वैत साधना है, वहाँ बताया गया है कि वैदिक आचार भक्ष्याभक्ष्य, गम्या-गम्य, स्पृश्यास्पृश्य आदि की मर्यादायें बाँधकर कैतव बुद्धि उत्पन्न करता

है। अकैतवता अर्थात् ऋजुता के लिए उन सबको तोड़ देना चाहिए। ऐसा भी हुआ है कि कौलाचार को मानने वाला ब्राह्मण अपने सामाजिक जीवन में वैदिक मर्यादाओं को मानता रहा है। वही जब कुल साधना में प्रविष्ट होता था तो उन सबको छोड़ देता था। किन्तु उच्च भूमिका की उन बातों का आश्रय लेकर ऐसा वर्ग खड़ा हो गया जो दुराचार, मलिनता और उच्छृंखलता का समर्थन करने लगा। जो व्यक्ति गंदा रहता है, ऊट-पटाङ्ग बातें करता है, उसमें हम किसी उच्च आत्मा की खोज करने लगते हैं। महायोगी बनने के लिए साधना उतनी आवश्यक नहीं है जितना पागलपन का प्रदर्शन। ऐसे व्यक्ति को महत्व देना हमारी राष्ट्रीय मनोवृत्ति बन गई है।

सोलहवीं शताब्दी में भक्तिवाद का विकास हुआ, उस समय भी शास्त्रीय ज्ञान की भरपेट निन्दा की गई। यह दोहा प्रसिद्ध है—

पोथी पढ़ मूरख भया, पंडित भया न कोय।

ढाई अक्षर प्रेम के, पढ़े सो पंडित होय ॥

हो सकता है कि कुछ ऐसे साधक रहे हों जो अनपढ़ होने पर भी साधना की उच्च भूमिका पर पहुँच चुके हों। किन्तु उनका सहारा लेकर ऐसे लोगों की बहुत बड़ी संख्या हो गई जो न विद्वान थे, न चरित्र संपन्न। वे विचित्र प्रकार के कपड़े पहिनकर पागल की तरह घूमने लगे और जनता उन्हें पूजने लगी।

वर्तमान युग भी इस वर्ग के प्रभाव से मुक्त नहीं है। प्रत्येक धार्मिक परम्परा पर ऐसे व्यक्तियों का अधिकार है जो केवल वेशभूषा के आधार पर पूजे जा रहे हैं। एक ओर वे तरह तरह के आडम्बर रचकर सर्व-साधारण की बुद्धि पर आवरण डालते रहते हैं दूसरी ओर नवीन प्रतिभा को नास्तिकता कहकर बदनाम करते रहते हैं। उन्हें एक मात्र भय प्रतिभासम्पन्न विद्वानों से होता है जो खरी बात सुनाते हुये नहीं हिचकते। उन्हें चुप करने के लिए पहला प्रयत्न खरीदने का

होता है। उनका सम्बन्ध अपनी संस्था या संगठन के साथ जोड़ दिया जाता है और वेतन प्राप्त करने के कारण यह आशा की जाती है कि वे उसके गीत गाएँ। यदि इस प्रकार वश में नहीं आते तो उन्हें नास्तिक, मिथ्यात्वी आदि शब्दों द्वारा बदनाम किया जाता है और अनुयायियों के हृदय में उनके प्रति घृणा उत्पन्न कर दी जाती है।

मूर्खता की परम्परा का प्रभाव राजनीतिक क्षेत्र में भी कम नहीं है। हमारा नेतृत्व ऐसे वर्ग के हाथ में आ गया है जो गुण न होने पर भी विशेष प्रकार के कपड़ों के आधार पर पूजा जा रहा है। कम से कम उस प्रकार के कपड़े पहन लेने पर वह अपने को पूजा का अधिकारी अवश्य समझने लगता है। इसके विपरीत जो व्यक्ति ज्ञान सम्पन्न होने पर भी वैसी वेश-भूषा नहीं रखते उनकी निंदा की जाती है। अंग्रेजी कपड़े पहनकर अंग्रेजी बोलना गुलामी का चिह्न माना जाता है किन्तु खदर पहिनकर अंग्रेजी बोलना बहुत बड़ा गुण हो गया है। योग्यता न होने पर भी इस प्रकार का वर्ग जब सत्तारूढ़ हो जाता है तो अपनी अयोग्यता को छिपाने का प्रयत्न करता है, इसके लिए तरह-तरह के प्रदर्शन तथा ढोंग रचता रहता है। उनकी आज्ञाओं के कारण अधिकारी परेशान रहते हैं और अनुभव होने पर भी कुछ नहीं कर पाते। यदि कुछ बोलते हैं तो नौकरी से पृथक् होने का भय बना रहता है। इस परिस्थिति में वे भी यही उचित समझते हैं कि बिना सोचे समझे पदारूढ़ नेता की आज्ञा का पालन करते जाना चाहिए। फल जनता को भुगतना पड़ता है। जब वह रोती है और अपना कष्ट प्रकट करती है तो उसी के भाई दूसरे वेशधारी को जांच करने के लिए नियुक्त कर दिया जाता है। खर्च और जनता पर बोझ बढ़ता चला जाता है किन्तु समस्या नहीं सुलझती।



हाथ रे मेरा जोवन बीता जाय

| ६

प्रत्येक व्यक्ति, विशेष प्रकार के सन्मान का दावा करता है। साथ ही यह भी शिकायत करता है कि दुनिया उसका समुचित आदर नहीं करती। यह दावा कहीं गुणों के आधार पर किया जाता है, कहीं पद के आधार पर, कहीं वंश के आधार पर, कहीं वेश के आधार पर, कहीं आयु के आधार पर और कहीं लिंग के आधार पर। जब कोई दल या सङ्गठन व्यक्ति-विशेष को अपनी प्रतिष्ठा का प्रतीक बना लेता है तो वही दावा और शिकायत अनुयायियों द्वारा होने लगती हैं।

प्रत्येक स्त्री यौवन में प्रवेश करते ही प्रेम की अधिकारिणी बन जाती है। जो व्यक्ति उस समय उसकी ओर आकृष्ट नहीं होता, वह हृदयहीन कहा जाता है। साथ ही प्रत्येक नवयुवती को यह शिकायत रहती है कि दुनिया उसके सौंदर्य का उचित आदर नहीं करती। जिसका विवाह नहीं हुआ, वह कहती है कि समस्त नवयुवक ओर उनके माता-पिता पैसे के भूखे हैं, गुणों को नहीं देखते। जिसका विवाह हो जाता है, उसे यह शिकायत रहती है कि परिवार में उसका जितना सन्मान होना चाहिए, उतना नहीं होता। इस शिकायत के कई आधार हो सकते हैं। यह भी हो सकता है कि घरवाले उसके सौन्दर्य एवं गुणों का आदर करना न जानते हों। किन्तु बहुतबार ऐसा भी होता है कि वह अपने को अत्यधिक महत्व देने लगती है। कहीं मन में स्थान होने पर भी अभिव्यक्ति की न्यूनता के कारण यह धारणा

वन जाती है, कहीं सामाजिक या आर्थिक परिस्थिति विवश कर देती है। किन्तु साधारणतया कारणों पर विचार नहीं किया जाता और शिकायत चलती रहती है। हृदय की भूमिका पर यह स्वाभाविक भी है। वहाँ भावुकता का आधिपत्य होता है। किन्तु सभी इतने भाग्यशाली नहीं होते कि इस भूमिका पर लम्बे समय तक रह सकें। उन्हें कल्पना जगत् को छोड़कर वास्तविक जगत् में आना पड़ता है। इस संक्रमण काल में यदि विवेक और दृढ़ता से काम लिया जाय तो जीवन में नीरसता नहीं आने पाती। अन्यथा वह छिन्न-भिन्न हो जाता है।

प्रत्येक बालक वात्सल्य का अधिकारी होता है। यह अधिकार उसे उम्र के आधार पर प्राप्त होता है। किन्तु वह अपने इस अधिकार की मांग वहीं करता है जहाँ उसे विश्वास हो जाता है कि वह ठुकराई नहीं जाएगी। अन्य स्थानों में अपनी ओर से मांग करने के स्थान पर वह दूसरों में अभिरुचि जागृत करता है। लज्जा एवं संकोच द्वारा उनके हृदय में सोये हुए वात्सल्य को जगा देता है। फलस्वरूप उसे कहीं पर निराश नहीं होना पड़ता। वह मांग या अपेक्षा वहीं करता है, जहाँ उनके ठुकराये जाने का भय नहीं होता। किन्तु नवयुवती क्षेत्र को नहीं देखती।

धर्म गुरुओं को यह शिकायत रहती है कि अनुयायी उनका उचित सम्मान नहीं करते। इस अपेक्षा का आधार अधिकतर गुण नहीं होते। प्रत्येक धर्मगुरु, पद विशेष पर आसीन होने अथवा विशेष प्रकार की वेशभूषा धारण करने के कारण अपने को दूसरों से श्रेष्ठ मानने लगता है। जब उसे अपनी धारणा के अनुसार प्रतिष्ठा नहीं मिलती तो शिकायत करता है और पारिभाषिक शब्दावली में गालियाँ निकालता है। कहता है—पाप बढ़ गया। दुनियाँ नास्तिक हो गई। कहीं श्रद्धा नहीं रही। शीघ्र ही प्रलय आने वाला है।

प्रत्येक धार्मिक परम्परा विनय एवं नम्रता को सर्वश्रेष्ठ गुण मानती है। अहंकार के दमन पर बल देती है। उपर्युक्त शिकायत करने वाले भी अपने उपदेशों में उसी का प्रतिपादन करते हैं। किन्तु उसे अपने जीवन में उतारना आवश्यक नहीं समझते।

जब धर्मगुरु अनुयायियों की प्रतिष्ठा का प्रतीक बन जाते हैं, तो यह दावा अपनी चरमसीमा पर पहुँच जाता है। उस समय चरित्र अथवा वास्तविक गुणों की सर्वथा उपेक्षा होने लगती है। मिथ्या प्रदर्शन एवं दंभ बढ़ जाता है। प्रत्येक संप्रदाय के अनुयायी अपने-अपने गुरु में सच्चे-भूठे गुणों का आरोप करते हैं। ओर वास्तविकता जानते हुए भी उनका बढ़ा चढ़ा कर वर्णन करते हैं। ऐसा करने में उनकी निजी अस्मिता का पोषण होता है। जिस प्रकार बालक अपने पिता की प्रशंसा सुनकर प्रसन्न होता है, उसी प्रकार वे भी अपने-अपने धर्मगुरु की प्रशंसा से प्रसन्न होते हैं। उतना ही नहीं, गुरुओं की मिथ्या प्रशंसा तथा चमत्कारपूर्ण घटनाओं में प्रतिस्पर्द्धा चल पड़ती है। जब इससे भी संतोष नहीं होता तो दूसरे धर्मगुरु की निन्दा एवं आक्षेप प्रत्याक्षेपों पर उतर आते हैं और तलवारें चलने लगती हैं। इस प्रकार अहंकार—तृप्ति और धर्म की सेवा में विरोध के स्थान पर दोनों एक-दूसरे के पोषक बन जाते हैं।

राजनीति में इस दावे का आधार पद या व्यक्ति विशेष की संतान होना रहा है। लोकतन्त्र के विकास ने वंशपरम्परा या पैतृक अधिकार को समाप्त कर दिया। किन्तु पदकृत दावा उसी रूप में चल रहा है। इसके दो रूप हैं, प्रथम रूप का सम्बन्ध सत्तारूढ़ वर्ग के साथ है और द्वितीय का विरोधी दलों के साथ। सत्तारूढ़ दल में पदस्थ नेता को राजकीय सम्मान अनायास ही प्राप्त हो जाता है। सम्बद्ध राजकीय अधिकारियों को यह कार्य राजकीय अनुशासन के रूप में करना पड़ता है। उसमें कमी रहने पर उनकी शिकायत हो जाती है और दण्ड का

भय बना रहता है। किन्तु वे जो जनता से आशा रखते हैं वह प्रायः पूरी नहीं होती। इसके लिये वे एक ओर शिकायत तथा दूसरी ओर अपनी सामर्थ्य का बढ़ा-चढ़ाकर वर्णन करते हैं। प्रत्यक्ष अथवा अप्रत्यक्ष रूप में यह प्रकट करते हैं कि वे प्रसन्न होने पर स्थानीय जनता को बहुत अधिक लाभ पहुँचा सकते हैं और अप्रसन्न होने पर हानि भी कर सकते हैं। इस प्रकार एक ओर प्रलोभन तथा दूसरी ओर आतंक फैलाते हैं।

विरोधी दलों के नेता सम्मान प्राप्त करने के लिए तरह-तरह की डींग हाँकते हैं। वर्तमान व्यवस्था में दोष निकालते हैं और दावा करते हैं कि समाधान एकमात्र उन्हीं के पास है। भय के रूप में कहते हैं कि यदि वर्तमान व्यवस्था बनी रही तो कष्ट उत्तरोत्तर बढ़ते जाएंगे। दूसरी ओर प्रलोभन देते हैं कि यदि व्यवस्था उनके दल के हाथ में आ गई तो उत्तरोत्तर सुखों की वृद्धि होगी। भूतल स्वर्ग बन जाएगा। सर्व साधारण का यह स्वभाव है कि वह वर्तमान से संतुष्ट नहीं होता। विरोधी दल इस मनोवैज्ञानिक तथ्य से लाभ उठाता है और उस असंतोष को अपने प्रति निष्ठा के रूप में बदल देना चाहता है।

विरोधी दल के सदस्य नेता को अपनी प्रतिष्ठा का प्रतीक मानते हैं। उसके गुणों का बढ़ा-चढ़ा कर वर्णन करते हैं। उसकी प्रशंसा से प्रसन्न होते हैं। यदि कोई निन्दा करता है तो मरने-मारने को तैयार हो जाते हैं। त्यागी वर्ग में जो अहंकार वेशभूषा एवं संप्रदाय विशेष की सदस्यता के कारण आ जाता है, वही यहाँ विरोधी दल का सदस्य होने मात्र से आ जाता है। धर्मगुरु साधारण नागरिकों को हेय दृष्टि से देखता है। अपने को पवित्र समझता है और उन्हें कीचड़ में लथपथ। अपने को प्रकाश मानता है और उन्हें अंधकार। इसी प्रकार विरोधी दल का नेता सत्ताखूद दल के नेता को हीन दृष्टि से देखता है। अपने को त्यागी समझता है और उसे लम्पट। अपने को स्वार्थ रहित, परोपकारी

और उसे स्वार्थी । अपने फटे कपड़ों को त्याग समझता है और उसकी वेशभूषा को बनावट या थोथा शृंगार ।

प्रत्येक कलाकार अपनी कृति को सर्वश्रेष्ठ मानता है । और यह शिकायत करता है कि दुनिया उसका समुचित आदर नहीं करती । एक ओर समझने वालों को स्वार्थी एवं ईर्ष्यालु कहता है । दूसरी ओर साधारण वर्ग को नासमझ । कलाकार के सन्मान प्राप्त न करने के तीन कारण हो सकते हैं । पहला कारण है उसकी कृतिका इस योग्य न होना । दूसरा कारण है कृति उत्तम कोटि की होने पर भी उसके प्रदर्शन या उपस्थित करने का ढंग न आना । तीसरा कारण है उपयुक्त क्षेत्र न मिलना । इनमें क्षेत्र प्राप्ति सबसे अधिक महत्व रखती है । प्रायः सर्वसाधारण में परख की योग्यता नहीं होती । वह प्रशंसा सुनकर योग्यता का अनुमान करती है ।

जिस कलाकार को आश्रय प्राप्त हो जाता है वह साधारण कोटि का होने पर भी उच्चस्थान प्राप्त कर लेता है । दूसरी ओर उत्तम कलाकार भी आश्रय न मिलने पर छिपा रहता है । प्रतिष्ठा के लिए कला का प्रदर्शन भी बहुत महत्व रखता है । यदि प्रदर्शन का ढंग आता है तो वास्तविक प्रतिभा न होने पर भी प्रतिष्ठा मिल जाती है । वस्तुतः घायल होता उतना आवश्यक नहीं है, जितना घावों का प्रदर्शन । और यह प्रदर्शन घायल हुए बिना केवल पट्टियां बाँधकर भी किया जा सकता है । वर्तमान युग में प्रचार के जिन साधनों का विकास हुआ है, उन्होंने वास्तविकता की सर्वथा उपेक्षा कर दी है ।



चार बालक : प्रतिक्रिया

| ७

नदी पर बहुत से बालक खेल रहे थे । न कोई छोटा था न कोई बड़ा ! एक घोड़ा बनता था, एक सवार और दूसरे खड़े-खड़े तालियां पीटते थे, शोर मचाते थे । फिर भी सब एक समान थे । सबको एक सा आनन्द आ रहा था ।

कुछ मिट्टी के घरोंदे बनाते और लात मारकर फोड़ देते । बनाना और बिगाड़ना एक ही क्रीड़ा के दो अंश थे । बनाते समय भी हँसते थे और बिगाड़ते समय भी हँसते थे ।

कुछ पानी में डुबकियाँ लगा रहे थे और कुछ उन पर कीचड़ उछाल रहे थे, फिर भी दोनों पवित्र थे । स्नान करना और पानी उछालना दोनों शुद्धि के अंग थे ।

सब में आल्हाद था, सबमें आनन्द ! सबमें जीवन, सबमें स्फूर्ति । न प्रतिस्पर्धा थी न प्रतिक्रिया । न अहंकार था, न दमन । न स्वार्थ था, न परोपकार ।

इतने में हाथ में मिठाई लेकर, एक माँ आई । अपने बच्चे को इशारे से एक ओर बुलाया और मिठाई देकर कहा, 'ले बेटा खा ले ।' दूसरे बच्चे माँ के संकेत और उस बालक के अलग होने को देखते रहे । उन्होंने यह भी देखा कि उसके हाथ में मिठाई है और वह उसे छिपकर खाने की चेष्टा कर रहा है । एक बालक सहज उत्सुकतावश पास पहुँच

गया और धूर-धूर कर देखने लगा। माँ ने आगंतुक को डाँटकर दूर भगा दिया।

उसी दिन से मिठाई वाला बालक दूसरे बालकों से अलग हो गया परस्पर सन्देह ने घर कर लिया। वह अपने को धनवान समझने लगा और दूसरों को दरिद्र। जब भयभीत होता तो अपने को हरिण समझता और उन्हें व्याघ्र। जब सुरक्षित होता तो अपने को मिठाई मानता और उन्हें चील कौए। खाई बढ़ती चली गई और दोनों एक दूसरे को शत्रु मानने लगे।

तिरस्कृत बालक ने घर जाकर माँ से मिठाई माँगी, किन्तु इच्छा पूरी न हुई। वह मन ही मन उपाय ढूँढ़ने लगा।

एक दिन गली में खेल रहा था। विचित्र वेश पहने एक व्यक्ति आया। बालक पूछने लगा, तुम कौन हो ?

—‘हम साधु हैं।’ उस व्यक्ति ने उत्तर दिया।

साधु क्या होता है ?—बालक ने सहज भाव से पूछा। ‘साधु बनने पर सारी इच्छाएँ पूरी हो जाती हैं’ उसने उत्तर दिया। क्या मिठाई भी मिलती है ? बालक ने फिर पूछा।

हाँ; बढ़िया मिठाई मिलती है—साधु ने कहा।

बालक ने साधु के कपड़े पहन लिए। स्त्री-पुरुष उसके चरणों में झुकने लगे। मिष्टान्न तथा अन्य वस्तुएँ भेंट चढ़ने लगीं। उस दिन जिस माता ने उसे दूर भगाया था, वह भी आई और अपनी भेंट चढ़ा कर चली गई। साथ में वह पुत्र भी था, जिसे नदी तट पर मिठाई दी गई थी, किन्तु वह मन ही मन बाबाजी के भाग्य से ईर्ष्या कर रहा था सोच रहा था, अगर मैं इनकी जगह होता तो कितना आनन्द आता।

एक पिता नदी तट पर रेशमी वस्त्र और मुकुट लेकर आया। अपने पुत्र को उन्हें पहिनाकर कहने लगा—बेटा, तुम राजकुमार हो।

दूसरे बालक तुम्हारी प्रजा हैं। बालक ने दर्पण में अपनी परछाईं देखी। भड़कीले वस्त्र और मुकुट की चकाचौंध में अपने को भूल गया। ऐसा लगा जैसे मुकुट वास्तविक है और वह स्वयं मिथ्या। मुकुट को अपना बनाने के स्थान पर वह मुकुट का हो गया। गर्वोन्नत होकर लम्बे-लम्बे कदम रखने लगा। साथियों से कतराने लगा, जैसे उनसे बात करने पर शान घट जायेगी।

एक दिन एक पुराना साथी मिलने आया। दरवाजे पर पहुँचते ही रोक दिया गया। बड़े अनुनय-विनय के पश्चात् द्वारपाल ने अन्दर जाकर सूचना दी—‘हुजूर, एक आदमी आप से मिलना चाहता है। अपने को हुजूर का पुराना साथी बताता है। नाम है—रामगोपाल। “याद नहीं आता कि रामगोपाल नामक मेरा कोई साथी था। कह दो—अभी फुर्सत नहीं है।” द्वारपाल ने राजा की आज्ञा सुना दी। उत्तर सुनकर वह मन ही मन जलभुन कर रह गया। उसी समय बदला लेने का निश्चय कर लिया।

नगर के पास डाकुओं का गिरोह रहता था। वह उसमें सम्मिलित हो गया और कुछ ही दिनों में सरदार बन गया। प्रतिशोध की आग अन्दर ही अन्दर सुलगती रही। बड़े-बड़े डाके मारे और अपार संपत्ति का स्वामी हो गया। सैकड़ों व्यक्तियों को अपना साथी बना लिया। राजा उसकी शक्ति से काँपने लगा।

प्रजा ‘रामगोपाल’ डाकू के आतंक से भयभीत रहने लगी। राजा की सेना एवं अन्य शक्ति असफल सिद्ध हुई। प्रजा में उसके प्रति असंतोष फैलने लगा। डाकू ने इसका लाभ उठाया और वह लब्धप्रतिष्ठ नागरिकों एवं राजकीय वर्ग से मधुर सम्बन्ध जोड़ने लगा। एक दिन विप्लव हुआ और राजा को निर्वासित करके ‘रामगोपाल’ सिंहासन पर बैठ गया। चारों ओर उसका जयनाद होने लगा।



नग्न सल्य

.....जब कोई समाज की अन्धरूढ़ियों के विरुद्ध क्रान्ति की आवाज उठाता है, तो उसे नास्तिक, पापी, धर्मभ्रष्ट, देशद्रोही, खल आदि शब्दों द्वारा बदनाम किया जाता है ।

जब क्रान्ति की आवाज तेज होती जाती है और जनता उसे सुनने लगती है, तो दूसरे नारे शुरू हो जाते हैं—“धर्म डूब गया । पाप बढ़ गया, समाज रसातल में चला गया ।” समाज के मन में भय का वातावरण पैदा किया जाता है ।

किन्तु जब आन्दोलन की शक्ति तीव्रतर हो जाती है, तो रूढ़िपोषक वर्ग को अपनी प्रतिष्ठा का भय सताने लगता है । फलस्वरूप उनमें से कुछ समझदार लोग आगे आते हैं, आन्दोलन का रूप बदलते हैं और उस नास्तिक को भगवान का अवतार घोषित कर देते हैं.....

नास्तिक और अवतार | १

नई परम्पराओं का जन्म उच्च लक्ष्य को लेकर होता है। प्रारम्भ काल में वे यथासम्भव उसकी पूर्ति भी करती हैं। किन्तु धीरे-धीरे उनकी प्राण-शक्ति घटती चली जाती है। एक दिन आत्मा निकल जाती है और निर्जीव शरीर बच जाता है।

उस समय वर्ग-विशेष उस शव को लेकर स्वार्थ सिद्ध करना चाहता है और उसे संस्कृति का असली रूप कहकर ढिंढोरा पीटता है। स्वतन्त्र चेतना को अवरुद्ध करने के लिए तरह-तरह के प्रदर्शन करता है। वेशभूषा और निष्प्राण क्रियाकाण्ड को महत्व देने लगता है। उनके पीछे संस्कृति की आत्मा छिप जाती है और वह जीवन का संस्कार न रहकर, विकार बन जाती है। औषधि विष का रूप ले लेती है।

धर्म, राजनीति, समाज, कला, विद्या आदि प्रत्येक क्षेत्र में परंपराओं के शव इतने बढ़ गए हैं कि प्राणशक्ति लुप्तप्रायः हो गई हैं। मानव अपनी स्वतन्त्रता को खोकर यंत्र बनता जा रहा है और उसका संचालन उन लोगों के हाथ में आ गया है जो नेता कहे जाते हैं। वे लोग बुद्धि पर आवरण डालने के लिए एक ओर चकाचौंध और प्रलोभन का वातावरण खड़ा करते हैं, दूसरी ओर भय का। धर्म के क्षेत्र में इसी वातावरण ने स्वर्ग और नरक का रूप ले लिया। राजनीति ने उसी को आकर्षक योजनाओं और शत्रु-भय के रूप में प्रस्तुत किया। विद्या के क्षेत्र में यह अवरोध सिद्धांतों का रूप ले लेता है, जिनकी उपेक्षा बहुत

बड़ा अपराध समझा जाता है। कला के क्षेत्र में शैली का। जिससे तनिक भी इधर-उधर होना दोष माना जाता है।

जब कोई संवेदनशील युवक ऐसी परम्परा या रूढ़ि के विरुद्ध आवाज उठाता है तो उसे नास्तिक, पापी, धर्मभ्रष्ट, देशद्रोही, उच्छृंखल आदि शब्दों द्वारा बदनाम किया जाता है। प्रत्येक क्षेत्र ने इसके लिए अपनी-अपनी गालियाँ घड़ रखी हैं। फिर भी जब वह नहीं मानता और जनता उसकी आवाज सुनने लगती है, तो दूसरे नारे शुरू हो जाते हैं। कहा जाता है कि धर्म डूब गया, समाज रसातल में चला गया, पाप बढ़ गया, प्रलय आने वाला है। उसके प्रचार को रोकने के लिए सर्वसाधारण में भय का वातावरण उत्पन्न किया जाता है, यदि कहीं कोई दुर्घटना हो जाती है तो उसे तथाकथित पापवृद्धि का फल बताया जाता है। जहाँ धर्म-संस्था के हाथ में राजकीय शक्ति होती है वहाँ उस युवक को शारीरिक यातनायें भी दी जाती हैं। फिर भी यदि नहीं मानता तो फाँसी पर लटका दिया जाता है।

इतने पर भी जब आन्दोलन नहीं दबता और उत्तरोत्तर जोर पकड़ता जाता है तो रूढ़ि-पोषक वर्ग को अपनी प्रतिष्ठा का भय होने लगता है। फलस्वरूप उनमें जो समझदार या दूरदर्शी होते हैं वे रुख बदल लेते हैं। उस नास्तिक को भगवान का अवतार मान लिया जाता है। धर्मध्वंसक धर्मोद्धारक हो जाता है। प्रत्येक परम्परा की प्रगति का इतिहास उन नास्तिकों का इतिहास है जो बाद में अवतार बन गये।



अतिमानव की परम्परा | २

अतिमानव का अर्थ है, वह व्यक्ति जो अनुयायियों का बल प्राप्त करके सर्व-साधारण पर छा जाता है। फलस्वरूप स्वतन्त्र प्रतिभा एवं व्यक्तित्व नहीं पनपने पाते। कुछ व्यक्ति इस पद को अपने जीवन-काल में प्राप्त कर लेते हैं, किन्तु अधिकतर मरने के बाद प्राप्त करते हैं। जीवित काल में जब एक व्यक्ति अपने निर्णय को दूसरे पर लादना चाहता है तो दूसरे के लिए शङ्का करने का अवकाश रहता है। वह उसे तभी स्वीकार करता है जब कहने वाले के गुणों से प्रभावित हो। किन्तु मरने के पश्चात् गुणों का वास्तविक अस्तित्व आवश्यक नहीं रहता। उस समय नेता आदर्श व्यक्ति न रहकर प्रतिष्ठा का प्रतीक बन जाता है। उसके चारों ओर अनुयायियों की सेना खड़ी हो जाती है, जो अपने दुर्ग की रक्षा के लिए ही नहीं दूसरे के दुर्ग को गिराने के लिए भी उचित एवं अनुचित उपाय को काम में लाती रहती है। धर्म, समाज, राजनीति, अर्थव्यवस्था यहाँ तक कि कला का इतिहास भी अतिमानव की इस परम्परा को प्रकट करता है।

धर्म के क्षेत्र में इस परम्परा का जन्म ईश्वर के अवतार या भगवान के रूप में हुआ। जो सम्प्रदाय विश्व पर नियंत्रण करने वाली किसी उच्चसत्ता को स्वीकार करते हैं, उन्होंने अपने प्रवर्तक को अवतार बताया। उसके प्रत्येक वाक्य को अक्षरशः सत्य और जीवन की प्रत्येक घटना को आदर्श मानने पर बल दिया। उसका उठना-बैठना, खाना-पीना, खेलना, काम-वासना की तृप्ति, अभिसार आदि

सारी बातें आदर्श बन गईं । जो परम्परायें अवतारवाद को स्वीकार नहीं करती, उन्होंने यह माना कि वह ईश्वर का पुत्र है, उसका भेजा हुआ दूत है, ईश्वर अपनी इच्छा को उसके कान में कहता रहता है । कोई भी रूप हो, यह आवश्यक समझा गया कि मानव उसके विरुद्ध अपनी बुद्धि से काम न ले । जो बातें तर्क-सज्जत नहीं प्रतीत होती उनके लिए यह समझे कि बुद्धि वहाँ तक नहीं पहुँचा सकती और ईश्वर की आज्ञा मानकर ज्यों की त्यों स्वीकार कर लें ।

तीसरी परम्परा उन धर्मों की है जो इस प्रकार की सत्ता को स्वीकार नहीं करते, किन्तु उन्होंने भी अपने धर्मप्रवर्तक को अति मानव बनाना आवश्यक समझा । इनके बिना परम्परा के लुप्त हो जाने का भय हुआ । उन्होंने भी चमत्कारों का जाल खड़ा किया और अपने-अपने प्रवर्तक के साथ शारीरिक, बौद्धिक, राजनैतिक तथा आर्थिक प्रत्येक दृष्टि से मानवातीत गुणों को जोड़ दिया । अति-शयोक्तिपूर्ण वर्णन की प्रतिस्पर्धा चल पड़ी । एक ने कहा हमारे भगवान ने पहाड़ को अंगुली पर उठा लिया । दूसरे ने कहा तुम्हारे भगवान ने बड़े होकर ऐसा किया और वह पहाड़ भी छोटा-सा था, हमारे भगवान ने पैदा होते ही पैर के अंगूठे से मेरुपर्वत को हिला दिया । बौद्धिक-प्रतिस्पर्धा के रूप में सर्वज्ञवाद की कल्पना हुई । राजनीतिक तथा आर्थिक-स्पर्धा के रूप में प्रत्येक परम्परा ने उसे सम्राट और अपार सम्पत्ति का स्वामी बताया ।

जिन परम्पराओं ने सिद्धान्त के रूप में धन-सम्पत्ति को हेय बताया और जीवन-विकास का लक्ष्य त्याग को स्वीकार किया, वे भी प्रतिस्पर्धा के इस प्रलोभन से न बच सके । उन्होंने कुछ बातों को गृहत्याग से पहले और कुछ को बाद की बताकर समन्वय किया । समय बीतने पर एक विवाद खड़ा हुआ । पूछा जाने लगा कि किसी भी वाक्य को उस महापुरुष का कथन मानने में क्या प्रमाण है ?

परिणामस्वरूप संगठन विशृङ्खल होने लगे। उस समय एक वर्ग सामने आया और उसने दावा किया कि हमारे पास उस अतिमानव की शब्द-सम्पत्ति तथा परम्परा अक्षुण्ण है। उसने परम्परा के चारों ओर क्रिया-कांड का व्यूह रचा जिसमें स्वतन्त्र बुद्धि का प्रवेश न हो सके। यह वर्ग पुरोहित वा साधु-संस्था के रूप में सामने आया। वैदिक परम्परा में ब्राह्मण, श्रमण परम्परा में साधु, ईसाई-परम्परा में पादरी, इस्लाम में मोमिन इसी वर्ग का प्रतिनिधित्व करते हैं। इसने जनता की अन्ध-श्रद्धा को बनाये रखने के लिये अनेक प्रकार की मिथ्या-कल्पनायें की। प्रत्येक परम्परा का पौराणिक साहित्य इसका उदाहरण है। भक्ति-काल का अतिशयोक्ति पूर्ण साहित्य यह बताता है कि मानवता अब भी उस कुप्रभाव से मुक्त नहीं हुई। अब भी विश्व की विशालसंख्यक जनता चमत्कार पूर्ण असम्भव बातों में विश्वास करती है। उन्हें सत्य मानकर जीवनपथ को आलोकित करना चाहती है, किन्तु वह उत्तरोत्तर अन्धकारपूर्ण होता जा रहा है। सामाजिक क्षेत्र में अतिमानव की परम्परा वर्ण-विद्वेष, जाति-विद्वेष तथा लिंग-विद्वेष के रूप में प्रकट हुई। यहूदियों ने यह माना कि हम ईश्वर के चुने हुए बन्दे हैं। एक दिन आएगा जब परमात्मा जन्म लेगा और हमें विश्व के साम्राज्य पर प्रतिष्ठित करेगा। अब भी वे उस दिन की प्रतीक्षा में हैं और गैर-यहूदियों को घृणा की दृष्टि से देखते हैं। इसका परिणाम भयङ्कर जाति-विद्वेष के रूप में प्रकट हुआ, जो चिर काल से यूरोप का अभिशाप बना हुआ है। भारत में ब्राह्मण वर्ग अपने को भू-देव तथा अन्य वर्गों का गुरु मानता रहा। इसकी प्रतिक्रिया श्रमण परम्परा में हुई और उसने क्षत्रिय को ब्राह्मण के गुरु के स्थान पर बैठा दिया। ऋग्वेद तथा यजुर्वेद में वशिष्ठ आदि ब्राह्मण क्षत्रियों के गुरु हैं। किन्तु उपनिषदों में जनक आदि क्षत्रिय याज्ञवल्क आदि ब्राह्मणों के गुरु हैं। जैन एवं बौद्ध परम्परा में भी ऐसा ही है। महावीर क्षत्रिय थे और उनके

प्रमुख शिष्य ब्राह्मण । कोई जैन-तीर्थंकर क्षत्रिय से भिन्न वर्ण का नहीं होता । वर्ण-विद्वेष का निकृष्टतम रूप शूद्रों के प्रति घृणा के रूप में मिलता है, जहाँ जन्म के साथ ही एक बालक को नीचा मान लिया जाता है । यूरोप तथा अफ्रीका में भी श्वेत तथा अश्वेत जातियों में वर्ण-विद्वेष चल रहा है । किन्तु उसका आधार राजनीतिक है । अल्प-संख्यक श्वेत-जाति को बहुसंख्यक अश्वेत-जाति के साथ मिलने पर अपना अस्तित्व खो जाने का भय लगा ।

सामाजिक क्षेत्र में अतिमानव की परम्परा का तीसरा रूप लिंग वैषम्य है । स्त्री को अनेक अधिकारों से वंचित कर दिया गया । उन्हें वेद पढ़ने का अधिकार नहीं है । वे गुरु नहीं बन सकती । विद्या का क्षेत्र भी अतिमानव की परम्परा से मुक्त नहीं है । इतना ही नहीं यहाँ, वह अपेक्षाकृत भयङ्कर सिद्ध हो रही है । दर्शन-शास्त्र सत्य पर पहुँचने की विद्या है । उसका कथन है कि हमें अपनी बुद्धि द्वारा प्रत्येक बात के पर्यालोचन का अधिकार है । केवल व्यक्ति-विशेष की मान्यता होने के कारण किसी बात को सत्य या असत्य नहीं मानना चाहिए, किन्तु प्रत्येक दार्शनिक परम्परा पर किसी न किसी अतिमानव का प्रभुत्व हो गया और वह सत्य पर पहुँचने के स्थान पर अपनी सारी शक्ति उसके समर्थन में खर्च करने लगी । तर्क को पंगु बना दिया गया और वह प्रकाश न रहकर तलवार बन गया ।

काव्यशास्त्र अनुभूतियों का विश्लेषण करता है किन्तु वहाँ भी विभिन्न परम्परायें बन गईं और शास्त्रार्थ होने लगे । अनुभूतियों का परिष्कार करने के स्थान पर वे अपने-अपने आचार्य के समर्थन में लग गईं ।



आदर्श और अहंकार | ३

जैन-दर्शन का कथन है कि वस्तु का अपने आप में कोई मूल्य नहीं होता। उसका निर्धारण ग्राहक की मनोवृत्ति के आधार पर किया जाता है। वही वस्तु एक के लिये आत्म-शुद्धि की प्रेरक हो सकती है दूसरे के लिये क्रोध या द्वेष की, और तीसरे के लिये राग या मोह की। ऐसी स्थिति में यह नहीं कहा जा सकता कि उसे स्वीकार करने वाले सभी मनुष्यों को एक सा लाभ होगा।

धर्म संस्था के तीन तत्व हैं—देव, गुरु और धर्म। देवतत्त्व उस लक्ष्य को प्रगट करता है जहाँ हमें पहुँचना है, वह आत्मशुद्धि की चरम सीमा है। गुरु उस लक्ष्य को सामने रखकर चलने वाले पथिक हैं, वे अपने जीवन तथा उपदेशों द्वारा वहाँ पहुँचाने वाले पथ को आलोकित करते हैं। धर्म उस पथ का नाम है, जिसे अहिंसा, संयम, तप आदि शब्दों द्वारा प्रकट किया जाता है। प्रत्येक जैन अपने जीवन व्रत के रूप में इन तीनों तत्वों को स्वीकार करता है और उससे आशा की जाती है कि वह अपनी प्रत्येक हलचल में उनका ध्यान रखे। इनकी उपेक्षा करने पर किसी व्यक्ति को जैन होने का अधिकार नहीं है। पारिभाषिक शब्दों में इसे सम्यक्त्व कहा जाता है, जो आध्यात्मिक विकास की पहली सीढ़ी है।

किन्तु यह समझने की आवश्यकता है कि इन्हें अपनाने का क्या अर्थ है? उदाहरण के रूप में हम भगवान महावीर को लें, वे देवतत्व

में आते हैं। उन्हें अपना करने का एक अर्थ है उनके जीवन को आदर्श मानकर तदनुसार चलने का प्रयत्न करना। वे वीतराग थे। आत्मा के समस्त दोषों को दूर कर चुके थे, उसी प्रकार हम भी अपने दोषों और दुर्बलताओं पर विजय प्राप्त करने का अभ्यास करें।

दूसरा अर्थ है उनके साथ किसी प्रकार का सम्बन्ध जोड़कर अपने को दूसरे से उत्कृष्ट समझना। यदि कोई उन्हें गाली देता है, अपमान करता है, तो उसे अपना अपमान समझना और उनकी प्रतिष्ठा को अपनी प्रतिष्ठा मानना। जब कोई उन्हें बुरा कहता है तो हम लड़ने को तैयार हो जाते हैं, और जब गुणगान करता है तो प्रसन्न होते हैं।

भगवान का मान और अपमान में, निंदा और स्तुति में, सभी के प्रति समभाव था। यही उनकी जीवन-साधना थी और यही उपदेश। किन्तु हम उनका नाम लेकर राग-द्वेष के अधीन हो जाते हैं। क्या इसे वीतराग की भक्ति कहा जायगा? वस्तुस्थिति यह है कि हम वीतराग की आड़ लेकर अपने अहंकार की पुष्टि करने लगते हैं। वहाँ भगवान आदर्श न रह कर अस्मिता या अहंकार के प्रतीक बन जाते हैं।

इस प्रकार मनोवृत्ति बदलने पर हम सत्य से दूर चले जाते हैं। शास्त्रीय शब्दों में सम्यग्दर्शन के स्थान पर मिथ्यात्व का प्रवेश होने लगता है। अपने देवता के सच्चे झूठे गुण गाते हैं और दूसरे देवता के दोष निकालते हैं। जाति, कुल, धन-सम्पत्ति आदि जिन बातों के अभिमान को उन्होंने बुरा बताया उन्हीं को लेकर उसका गुणगान किया जाता है।

देव के समान गुरु की उपासना भी दोनों प्रकार से हो सकती है। सच्चा साधक गुरु के जीवन से प्रेरणा प्राप्त करता है और उसके उपदेशों पर चलने के लिये प्रयत्नशील रहता है। ऐसी स्थिति में गुरु आदर्श का काम करता है। किन्तु जब वह अहंकार का प्रतीक बन

जाता है। गुरु के नाम के साथ सच्चे झूठे विशेषण लगाकर ढोल पीटता है, उनके जीवन के साथ अनहोनी घटनाओं का सम्बन्ध जोड़कर प्रचार करता रहता है। दूसरे गुरुओं में दोष निकालकर अपने गुरु को उत्कृष्ट बताता है। यदि गुरु के विरुद्ध कोई बात सुनता है तो कहने वाले से लड़ने के लिए तैयार हो जाता है। इस प्रकार आत्मशुद्धि के स्थान पर कषायों का पोषण करने लगता है।

एक बात और है। देव अतीत की वस्तु हैं। वे अपने आप कुछ नहीं करते। उनका नाम लेकर सब कुछ अनुयायी द्वारा किया जाता है। किन्तु गुरु का अस्तित्व वर्तमान काल में होता है। यदि अनुयायी के समान वह भी कषायों से अभिभूत है तो बुद्धि पर गहरा आवरण छा जाता है। ऐसी स्थिति में सत्य का भान होना अत्यन्त कठिन है। गुरु अपने अहंकार का पोषण करने के लिये अनुयायी को पथभ्रष्ट करता रहता है और पूजा प्रतिष्ठा आदि के मिथ्या प्रलोभन गुरु को सत्य नहीं प्रकट करने देते। मिथ्या प्रदर्शन धर्म का आवश्यक तत्व बन जाता है और संस्कृति, प्रभावना आदि शब्दों द्वारा सचाई पर परदा डालने का प्रयत्न किया जाता है।

तीसरा तत्व धर्म या पंथ है। इसकी चर्चा भी दोनों रूपों में होती है। सच्चे साधक अहिंसा, सत्य, संयम आदि को जीवन में उतारते हैं फिर भी सभी के प्रति नम्र रहते हैं। दूसरा रूप विद्याजीवी वर्ग में मिलता है। वे उन बातों की भारी भरकम शब्दों से चर्चा करते हैं। छोटी-छोटी बातों पर शास्त्रार्थ करते हैं और दूसरे को पराजित करके गौरव का अनुभव करते हैं। उनके लिये सिद्धान्त जीवन में उतारने के स्थान पर अहंकार तृप्ति के साधन बन जाते हैं।

इस प्रकार जीवन को ऊँचा उठाने वाले तत्व भी अहंकार के साथ मिलकर पतन का कारण बन जाते हैं। जब तक अहंकार घन-

सम्पत्ति आदि किसी जड़वस्तु के साथ मिला रहता है तब तक उसकी निन्दा की जाती है। उसका प्रदर्शन करने में कुछ झिझक या संकोच भी होता है। किन्तु जब वही अलंकार आध्यात्मिकता का चोगा पहिन लेता है तो भांपना कठिन हो जाता है। वर्तमान विश्व का यही अभि-शाप है। अहंकार राष्ट्रीयता, धर्म संस्कृति आदि का चोगा पहिनकर विकराल तांडव कर रहा है। मानव चेतना कुंठित हो रही है। समझ में नहीं आता कि उसे हेय समझें या उपादेय।



सिद्धान्तों का उन्माद | ४

सिद्धान्तों का निर्माण ऐसे व्यक्तियों द्वारा किया जाता है जो अपने-अपने क्षेत्र में प्रदीप के समान होते हैं। उनका जीवन आदर्श बन जाता है और वे जो कुछ कहते हैं वह सिद्धान्त। साधारण वर्ग अपने पथ का निर्णय उन महापुरुषों के जीवन एवं उपदेशों को लेकर करता है। वे अपने जीवन को प्रयोगशाला बनाकर जो निष्कर्ष निकालते हैं वे ही साधारण वर्ग के लिए सिद्धान्त बन जाते हैं। उनका असली लक्ष्य पथ को आलोकित करना होता है।

किन्तु जब सिद्धान्तों का सम्बन्ध साम्प्रदायिक अस्मिता या वैयक्तिक अहङ्कार के साथ हो जाता है तो वे पथप्रदर्शक के स्थान पर बुद्धि का आवरण बन जाते हैं। उस समय दृष्टि सत्य पर न रह कर स्वीकृत परम्परा की प्रत्येक बात को तर्कसंगत एवं सर्वश्रेष्ठ सिद्ध करने पर रहती है।

धर्म, स्वार्थ और अहङ्कार के दमन पर बल देता है। किन्तु धार्मिक परम्पराएँ उनके पोषण का साधन बन गई हैं। प्रत्येक परंपरा अपने को सर्वश्रेष्ठ सिद्ध करने का प्रयत्न करती है और जिस समय जैसा प्रवाह चलता है उसके समर्थन की बातें शास्त्रों में से ढूँढ़ ली जाती है।

सनातन धर्म अस्पृश्यता, वर्णभेद, आदि का अखाड़ा रहा है। अब भी काशी के पंडित इस आधार पर अपने को उच्च कहते हुए नहीं हिचकते कि वे किसी दूसरे का छुआ नहीं खाते। जैन तथा

बौद्धों को अब भी नास्तिक मानते हैं। किन्तु जब राष्ट्रीय एकता और वर्णभेद को समाप्त करने का आन्दोलन छिड़ता है, तो वे 'शुनिचैव श्वपाके च पंडिताः समदर्शिनः' आदि वाक्यों को दोहराने लगते हैं। इस बात की दुहाई देते हैं कि बुद्ध की गणना २४ अवतारों में है। जैनियों के प्रथम तीर्थंकर ऋषभदेव का वर्णन भागवत् में मिलता है। शास्त्रों की यह दुहाई बोलने वाले और सुनने वालों के अहङ्कार को तृप्त कर देती है। उनकी अंतरात्मा में परम्परागत वैषम्य के विरुद्ध जो ध्वनि उठती है, उसे शांत कर देती है। किन्तु यह कथन जुगनू की चमक के समान क्षणिक होता है। व्याख्यान मंडप से बाहर आते ही वे इस बात को भूल जाते हैं कि हमने क्या कहा था या क्या सुना था।

जैन धर्म समता को लेकर चलता है। अहिंसा का अर्थ है, व्यवहार में समता और स्याद्वाद का अर्थ है विचारों में समता। जैन विद्वान् एवं धर्मगुरु अपने व्याख्यानों में इस बात को तरह-तरह से प्रकट करते हैं। किन्तु यह नहीं कहा जा सकता कि इसके द्वारा वे समता को अपने या अनुयायियों के जीवन में उतारना चाहते हैं। वास्तव में देखा जाय तो वे समता का नारा लगाकर अपने-अपने अहङ्कार का पोषण तथा अपनी परम्परा को अन्य परम्पराओं से उत्कृष्ट सिद्ध करना चाहते हैं। यह बताना चाहते हैं कि प्रज्ज्वलित दीप केवल हमारे पास है, दूसरों के पास केवल मृत्पात्र। इस बात को भूल जाते हैं कि अस्मिता का सम्मिश्रण होते ही समता विषमता में परिणत हो जाती है। प्रदीप ठीकरा बन जाता है।

विश्वव्यापी अशांति का मूल कारण सिद्धान्तों का उन्माद है जो सिद्धान्तों के शत्रु पर पनपता है, "जीवित व्यक्तित्व" पर नहीं। जब तक सिद्धान्त जीवित रहता है, उन्माद दबा रहता है और उसके निष्प्राण होते ही हमारे व्यक्तित्व पर छा जाता है। अहङ्कार को अपना

असली रूप लेकर नृत्य करने से लज्जा आती है। और वह सिद्धान्तों का चोगा पहन लेता है। विश्व का रंगमंच अभिनेताओं के प्रदर्शन से भरा है। राम का अभिनय करने वाले अभिनेता को इस बात की चिन्ता नहीं होती कि दर्शक राम का अनुसरण करते हैं या रावण का। इसके स्थान पर उसे यह चिन्ता होती है कि उसके अभिनय की कितनी प्रशंसा हो रही है। उसमें दूसरों को रलाने या हंसाने की कितनी सामर्थ्य है।

अभिनेताओं का ध्यान अपने प्रदर्शन पर रहता है और अनुयायी उन्हें अपनी-अपनी अस्मिता के साथ जोड़ लेते हैं। प्रत्येक अनुयायी अपने-अपने अभिनेता की स्तुति करता है। समय बीतने पर वह स्तुति उसके अहङ्कार के साथ जुड़ जाती है। वह चाहता है कि अधिक से अधिक संख्या में लोग उस स्तुति में सम्मिलित हों। इसके लिए प्रलोभन एवं प्रदर्शन के समस्त उपायों को अपनाता है। लब्ध-प्रतिष्ठित व्यक्तियों को उसके समारोह में लाने का प्रयत्न करता है। यदि कोई मनोनीत व्यक्ति अभिनेता के उस प्रदर्शन में सम्मिलित नहीं होना चाहता या उसमें दोष निकालता है तो उसकी ओर घूर कर देखते हैं। बताने की आवश्यकता नहीं है कि ऐसी स्थिति में सिद्धान्त प्रदीप नहीं रहते किन्तु उन्माद बन जाते हैं और नेता एवं अनुयायी दोनों की बुद्धि को अष्ट कर डालते हैं।



धर्म और विज्ञान

| ५

प्रत्येक धार्मिक परम्परा यह दावा करती है कि उसका प्रवर्तक सर्वज्ञ था। उसने जो बातें कहीं वे अन्तिम सत्य हैं, इतना ही नहीं बहुत-सी बातें कालान्तर में भी उसके नाम के साथ जोड़ दी गईं और इसी आधार पर उन्हें सत्य रूप कहा जाने लगा। दूसरी और बुद्धिवादी मानव वैज्ञानिक परीक्षण करने लगा और बहुत-सी पुरानी धारणायें असंगत जान पड़ीं। धर्मगुरु वैज्ञानिकों के निष्कर्ष पर घबड़ा गए। चिरकाल से वे जिस दुर्ग को अभेद्य मान रहे थे और जिसे मजबूत करने के लिए अतीन्द्रिय तत्वों के पुट चढ़ाते जा रहे थे, वह धराशायी दीख पड़ा। इस संकट से बचने के लिए उन्होंने अपना अन्तिम शस्त्र चलाया। वह था वैज्ञानिकों को नास्तिक एवं पापी कह कर भक्त वर्ग को उनके सम्पर्क से बचाना। धार्मिकसम्प्रदाय परस्पर आघात प्रत्याघात के समय भी इसी धारणा को काम में लाते रहे हैं।

किन्तु विज्ञान पर इसका प्रभाव न हुआ। फलस्वरूप धर्मगुरुओं ने इसे कलियुग का प्रभाव कहकर अशिक्षित श्रद्धालु जनता को अपने अधीन रखने का प्रयत्न आरम्भ किया।

समाज सुधार तथा राष्ट्रीयता के विकास में भी धर्म ने रोड़े अटकाए। मनुष्य मनुष्य में परस्पर घृणा का पाठ सिखाया। सत्तासम्पन्न अत्याचारी शासक की विलास लीलाओं को पूर्व जन्म का फल कह कर असन्तुष्ट वर्ग में होने वाली प्रतिक्रिया को दबाने का प्रयत्न किया।

वास्तव में देखा जाय तो ये बातें धर्म का दोष नहीं हैं। ये सब उस वर्ग की देन हैं जो धर्म का नाम लेकर अपनी आजीविका

चलाना चाहता था । धर्म बुद्धि को कुंठित नहीं करता, वह सत्य का स्वागत करने के लिए सदा उद्यत रहता है । सत्य से विमुक्त होते ही वह पाप बन जाता है । इसी प्रकार धर्म नम्रता और उदारता का पोषक है । वह मनुष्य और मनुष्य ही नहीं, प्राणीमात्र को समता की दृष्टि से देखता है । वैषम्य बुद्धि आते ही धर्म अधर्म बन जाता है । कोई व्यक्ति यदि अपना चरित्र ऊँचा रखता है तो यह अच्छी बात है । किन्तु यदि वही इस बात का अभिमान करता है तो लक्ष्य से गिर जाता है । अहङ्कार विद्या, सम्पत्ति, सोन्दर्य, शक्ति अथवा चरित्र किसी बात का हो उसके आते ही प्रत्येक गुण दोष बन जाते हैं । त्यागी संस्था यदि वैषम्य अथवा त्याग का अभिमान करती है तो अपने आदर्श से गिर जाती है । वैषम्य बुद्धि का दूसरा नाम ही पाप है ।

ऊपर बताया गया है कि धर्म का अर्थ है अपूर्णता से पूर्णता की ओर अभियान । जिस परम्परा में यह अभियान जितना शक्तिशाली होगा उसे उतना ही धर्मनिष्ठ कहा जायगा । इसके विपरीत जो परम्परा भेद रेखायें खड़ा करके अपूर्णता की ओर चल पड़ती है वह धर्म से दूर चली जाती है ।

साधारणतया धर्म को परलोक की वस्तु माना जाता है । वर्तमान जीवन में जिन बातों को पाप बताया गया है परलोक में उन्हीं का प्रलोभन दिया जाता है किन्तु यह ठीक नहीं है । यदि धर्म का फल स्वर्ग की अप्सरारयें हैं तो यह मानना होगा कि धर्म उनकी तुलना में हीन है । फल की तुलना में साधन सदा हीन होता है ।

वास्तव में देखा जाय तो धर्म का फल भोग नहीं है । वह अपने आप में फल है । द्वितीय क्षण में होने वाला आत्मविकास फल है और प्रथम क्षण साधन । धर्म को परलोक की वस्तु मानना भूल है । भगवद् गीता में आया है :—

इहैव तै जितः स्वर्गो

येषां साम्ये स्थितं मनः

अर्थात् जिन व्यक्तियों के मन में साम्यभावना समा गई है उन्होंने इसी जन्म में स्वर्ग प्राप्त कर लिया ।

मध्ययुग में धर्मसंस्था का बल निवृत्ति पर रहा है । जैन, बौद्ध, परिव्राजक आदि परम्पराओं ने सन्यास पर बल दिया । उनकी यह धारणा थी कि दैनिक जीवन में धर्म का पालन नहीं किया जा सकता । यह धारणा ठीक नहीं है । धर्म शब्द संस्कृत की 'धृ' धातु से बना है । इसका अर्थ है वह व्यवस्था जो व्यक्ति व समाज को धारणा करती है । वैदिकयुग में धर्म का यही रूप रहा था । उपनिषदों ने व्यक्तिवाद को समाप्त करके विश्व की समस्त हल चल का स्रोत एक ही तत्त्व को बताया और भेद बुद्धि समाप्त करने पर बल दिया । यह आध्यात्मिकता निष्क्रिय न होकर सामूहिक अनुष्ठान की ओर प्रेरित करती है ।

किन्तु जब बाह्य क्रियाकांड का आधिपत्य हो गया और संकुचित स्वार्थ जीवन का लक्ष्य बन गए तब उनसे ऊपर उठने के लिए उनकी व्यर्थता पर बल दिया जाने लगा । इसी तात्कालिक आवश्यकता को लेकर सन्यास प्रधान परम्परायें विकसित हुईं किन्तु कालान्तर में उन्होंने भी सार्वजनिक हित को अपना लक्ष्य मान लिया । बौद्धों का मद्भाग्य इसका उदाहरण है ।

धर्म प्रदीप के समान होता है । वह पथ को आलोकित करता है किसी को जबरदस्ती पकड़ कर नहीं चलाता । इसके विपरीत जो धर्म आँखें बन्द करके व्यक्ति विशेष या पुस्तक विशेष का पल्ला पकड़ने को कहता है, वह प्रकाश के स्थान पर अन्धकार का समर्थक बन जाता है ।



प्रतिष्ठा के आधार

| ६

साधारतया यह माना जाता है कि हम जिस व्यक्ति का आदर करते हैं उसमें गुण भी होते हैं। किन्तु यह ठीक नहीं है। कोई व्यक्ति गुणों के आधार पर प्रतिष्ठा प्राप्त करता है और किसी को प्रतिष्ठा देने के लिए गुणों का आरोप किया जाता है। प्रतिष्ठा करने वाला वर्ग उस व्यक्ति में गुणों के अस्तित्व को अपनी प्रतिष्ठा का आधार बना लेता है। फलस्वरूप वास्तविकता न होने पर भी उसके साथ सच्चे भूठे गुणों का संबंध जोड़ता रहता है। ऐसी स्थिति में गुणों का स्वरूप भी बदलता रहता है। जो वर्ग खानदान को महत्व देता है वह उसका संबंध किसी उच्चकुल के साथ जोड़ता है। जो घनसंपत्ति को, वह उसे अपार वैभव का स्वामी बताता है। जो राजकीय अधिकार को, वह उसे चक्रवर्ती मानता है। जो विद्या को, वह उसे परमजानी और जो त्याग को, वह उसे सर्वस्व त्यागी घोषित करता है। त्याग की परिभाषा भी अपनी-अपनी धारणा के अनुसार की जाती है। कोई वेशभूषा को महत्व देता है कोई बाह्य क्रियाकांड को, कोई निर्भयता, वीतरागता या जनशक्ति आदि आध्यात्मिक विकास को। प्रस्तुत लेख में प्रतिष्ठा के इन आधारों की संक्षिप्त चर्चा की जाएगी।

आयु

बहुत से व्यक्ति आयु के आधार पर प्रतिष्ठा प्राप्त करते हैं। वृद्ध जनों का आदर हमारी प्राचीन परम्परा है। परिवार में इस परंपरा को विशेष रूप से अपनाया जाता है। पुत्र माता-पिता का आदर करता

है, छोटा भाई बड़े भाई का। जहां तक वृद्ध होने के नाते आदर का प्रश्न है इसे अनुचित नहीं कहा जा सकता। यह भी ठीक है कि साधारणतया अल्पवयस्क की तुलना में वृद्ध का ज्ञान और अनुभव अधिक होता है। किन्तु बहुत से युवकों में यह श्रद्धा उन्माद का रूप ले लेती है। और यह उनकी विवेक शक्ति को कुंठित करने लगती हैं। उदाहरण रूप में छोटा बालक यह मानता है कि उसका पिता सर्वज्ञ है। वह प्रत्येक बात पिता से पूछता है और किसी के साथ विवाद होने पर पिता को प्रमाण के रूप में प्रस्तुत करता है। बचपन की यह मनोवृत्ति जब युवा होने पर भी बनी रहती है और वयस्क होने पर भी प्रत्येक बात में पिता के आदेश की प्रतीक्षा की जाती है तो व्यक्ति सदा के लिए परावलंबी हो जाता है। वृद्धों के प्रति आदर होने पर भी उस समय स्वतन्त्र होकर सोचने का पूर्ण अधिकार है।

आध्यात्मिक क्षेत्र में वृद्धों का यह प्रभुत्व उग्रमात्रा में पाया जाता है। लौकिक क्षेत्र में भी जहां व्यक्ति को स्वयं संघर्ष नहीं करना होता और वह पिता या पूर्वजों की संपत्ति उत्तराधिकार के रूप में प्राप्त करता है वहां यह प्रभुत्व बना रहता है। प्रायः संपत्ति का उत्तराधिकार बौद्धिक उत्तराधिकार के लिए विवश कर देता है। ऐसा व्यक्ति पितृ परम्परागत रीति रिवाजों और धारणाओं को भी उतना ही महत्व देता है जितना संपत्ति को। दूसरे शब्दों में यों कहा जाएगा कि उन्हें संपत्ति के उत्तराधिकार का अविभाज्य अंग मानता है।

इसके विपरीत जिस व्यक्ति को जीवन के लिए स्वयं संघर्ष करना होता है वह नए-नए अनुभव प्राप्त करता है और तदनुसार अपनी धारणाएँ बदलता चला जाता है। प्राचीन धारणाओं को केवल प्राचीन होने के नाते नहीं अपनाता। उन्हें अनुभव की कसौटी पर परखता है। ठीक उतरने पर स्वीकार करता है और गलत उतरने पर छोड़ देता है। साहसी होने पर उनके विरुद्ध क्रांति भी करने लगता है।

वृद्धों के प्रति आदर होने पर भी वह अपनी बुद्धि को कुंठित नहीं होने देता ।

प्राचीनता

धर्मसंस्था तथा अनेक अन्य स्थानों पर यह विवाद चलता रहता है कि प्राचीन परम्परा कौन सी है । उनकी दृष्टि में किसी विश्वास रीति-रिवाज, परम्परा या महापुरुष का प्राचीन होना प्रतिष्ठा का सर्वोच्च आधार है । किन्तु यह ठीक नहीं है । महाकवि कालिदास ने अपने नाटक 'मालविकाग्निमित्र' के प्रारम्भ में कहा है—

पुराणमित्येव न साधुसर्वम्
नचापिकाव्यंनवमित्यवद्यम् ।

संतः परीक्ष्यान्यतरद् भजंते

मूढः परप्रत्ययनेयबुद्धिः ॥

अर्थात्—पुरानी होने मात्र से किसी बात को अच्छा नहीं कहा जा सकता । इसी प्रकार नया होने मात्र से किसी काव्य को दोषवाला नहीं कहा जा सकता । पुरानी हो या नयी, समझदार व्यक्ति प्रत्येक बात की परीक्षा करता है । और मूर्ख अपनी बुद्धि से न सोचकर दूसरों के कहे पर चलता है ।

प्राचीनता का व्यामोह भारत का अभिशाप बना हुआ है । दूसरे शब्दों में हम इसे शवपूजा कह सकते हैं । जीवन का अर्थ है प्रतिक्षण नए रक्त का संचार । ज्यों-ज्यों इसकी कमी होती है, मृत्यु पास आने लगती है । धर्म, समाज तथा अन्य संस्थाओं का इतिहास इस नियम का अपवाद नहीं है । जिस धर्म में नए विचारों के रूप में नया रक्त नहीं आता, वह धर्म निर्जीव हो जाता है । जिस समाज में नई परम्पराएँ नहीं बनतीं, वह समाज निष्प्राण हो जाता है । प्रत्येक धर्म या समाज जिन महापुरुषों पर गर्व करता है, वास्तव में देखा जाय तो वे सबके सब अपने समय के नास्तिक या क्रान्तिकारी थे । जीवन-

काल में उन्हें गालियाँ तथा दूसरी यातनायें सहनी पड़ीं। किन्तु उनका बलिदान आगे आने वाली पीढ़ी के लिए प्रदीप बन गया। धीरे-धीरे उसका प्रकाश भी धुंधला पड़ता गया। एक दिन प्रज्ज्वलित शिखा बुझ गई और केवल मृत्पात्र रह गया। अनुयायी वर्ग उसी को प्रकाश मानकर पूजने लगा। प्रत्येक धार्मिक परम्परा का इतिहास इस तथ्य को लिए है।

पद

बहुत से व्यक्ति पद के आधार पर प्रतिष्ठा प्राप्त करते हैं। राजकुमार राजा का पुत्र होने मात्र से सिंहासन पर बैठ जाता है और उसके गीत गाये जाते हैं। निजी गुणों की अपेक्षा नहीं होती। इसी प्रकार धर्माचार्य की गद्दी पर बैठने वाला गुण न होने पर भी धर्मगुरु की प्रतिष्ठा प्राप्त कर लेता है। राज्यतंत्र तथा अन्य स्थानों में भी पद मिलते ही प्रतिष्ठा और अधिकार प्राप्त हो जाते हैं। ऐसे क्षेत्रों में व्यक्ति को गुण प्राप्त करने की चिन्ता नहीं होती। वह उचित एवं अनुचित प्रत्येक उपाय द्वारा पद प्राप्त करना चाहता है। और यह मानता है कि पद प्राप्त होने पर गुण और प्रतिष्ठा अपने आप आयेगी। राजनीति इस सिद्धान्त को मानकर चलती है कि व्यक्ति में निजी गुण चाहे न हों। यदि वह पद पर आगया है तो उसे प्रतिष्ठा मिलनी ही चाहिए। इसके बिना शासन का कार्य नहीं चल सकता। वर्तमान राजनीति में प्रत्येक शासक के साथ प्रचार विभाग होता है। जो सच्ची-झूठी प्रशंसा द्वारा उसके भाव को फैलाने का प्रयत्न करता रहता है।

वेशभूषा

वेशभूषा पद की रूपान्तर है। इसका वर्चस्व मुख्यतया धर्म-संस्था में है। एक महापुरुष किसी परम्परा या संगठन को जन्म देता है। धीरे-धीरे अनुयायियों का दल खड़ा हो जाता है और उस संगठन के

प्रत्येक सदस्य को पूजनीय मानता है। इसके लिए संगठन का सदस्य होना और उसके द्वारा निर्दिष्ट वेशभूषा रखना पर्याप्त मान लेता है। इस बात की चिन्ता नहीं की जाती कि सदस्यों में वास्तविक गुण हैं या नहीं। बहुत बार ऐसा भी होता है कि अनुयायी वर्ग संगठन की प्रतिष्ठा को अपनी प्रतिष्ठा मानने लगता है। फलस्वरूप उसके प्रत्येक सदस्य की सच्ची-भूठी प्रशंसा करता रहता है। इतना ही नहीं यदि उनमें से कोई चरित्रहीन या दुराचारी दिखाई देता है तो दोषों को ढकने की कोशिश की जाती है। उसकी निन्दा से दुःख होता है। जब उपास्य वर्ग उपासक वर्ग के अहङ्कार का प्रतीक बन जाता है तो वास्तविक गुणों की अपेक्षा नहीं रहती है। संगठन विशेष का सदस्य होना और उसके द्वारा पुरष्कृत वेशभूषा धारण करना ही प्रतिष्ठा प्राप्त करने के लिए पर्याप्त समझा जाता है।



स्वस्थ और रोगी

| ७

स्वस्थ शरीर जिस आहार को ग्रहण करता है उसे शुद्ध रक्त में परिणत करके नयी शक्ति प्राप्त करता है। उसके विपरीत रुग्ण-शरीर में वही आहार विषैले तत्व उत्पन्न करता है। आहार या भोजन सामग्री के पर्याप्त मात्रा में होने मात्र से हम स्वस्थ नहीं कहे जा सकते। उसका आधार पाचन शक्ति है, स्वामित्व नहीं। जिस सम्पत्ति को हम पचा नहीं सकते उसका संग्रह स्वास्थ्य के स्थान पर विकार उत्पन्न करता है।

शरीर के समान व्यक्ति, समाज और राष्ट्र पर भी यह बात लागू होती है। प्रतिभा, पुरुषार्थ, विद्या, कला, धन आदि सम्पत्ति के अनेक रूप हैं। हमें यह देखना है कि उसका कितना भाग निर्माण या रचनात्मक कार्यों में खर्च हो रहा है और कितना दूसरे की निन्दा, लड़ाई झगड़े अहंकार पोषण आदि विध्वंसक कार्यों में। कितना अंश स्वस्थ रक्त का निर्माण कर रहा है और कितना विकारों की वृद्धि कर रहा है। यही हमारे स्वास्थ्य का मापदण्ड है।

वर्तमान विश्व की यह मुख्य समस्या है। हमारे पास पर्याप्त खाद्य सामग्री है फिर भी हम भूखे हैं। सुख साधनों के पर्याप्त मात्रा में होने पर भी हम दुःखी हैं। इसका एकमात्र कारण यह है कि जिन साधनों से सुख संपत्ति की वृद्धि हो सकती है उन्हीं को दुःख एवं अभाव की वृद्धि में लगाया जा रहा है। जो विज्ञान स्वास्थ्य के नये-नये साधनों का आविष्कार कर सकता है वही रोग के कीटाणु उत्पन्न कर रहा है। जल वायु को विषाक्त बनाकर आने वाली पीढ़ियों को पंगु, तथा नपुंसक

वनाने में लगा है। लाखों मन खाद्यसामग्री को इसलिये जला दिया जाता है कि उसके बाजार में आने पर भाव न गिर जाये। वैज्ञानिक राजनीतिक तथा आर्थिक शक्ति का प्राचुर्य होने पर भी हम दुर्बल हैं। क्योंकि वह शक्ति हमें पच नहीं रही है और बल के स्थान पर विकार उत्पन्न कर रही है।

जैन समाज की शक्ति पर भी यही बात लागू होती है। हमारे पास धन बल है, विद्याबल है, तपोबल है और त्यागबल भी है, किन्तु वे समाज को शक्ति देने के स्थान पर विकार उत्पन्न कर रहे हैं। उनके द्वारा वैयक्तिक तथा दलीय अहंकार की वृद्धि की जा रही है। तप और त्याग आत्मशुद्धि के स्थान पर बाह्य प्रदर्शन और प्रतिष्ठा प्राप्त करने का साधन बने हुये हैं। धनबल, सहायता द्वारा दूसरों को ऊँचा उठाने के स्थान पर अहंकार पूर्ति का साधन बना हुआ है। धनी वर्ग ही नहीं, त्यागी वर्ग भी उसके द्वारा अपने अहंकार पोषण में लगा है। प्रथम वर्ग उस पर अपने साक्षात् स्वामित्व का प्रदर्शन करता है और त्यागी वर्ग उन स्वामियों को अपना भक्त बताकर। कहने की आवश्यकता नहीं है कि दोनों में परिग्रहबुद्धि और अहंकार का प्रभाव एक सा है। तप और त्याग बहुत बड़ी शक्ति हैं, किन्तु जब उनका प्रदर्शन होता है तो कहना होगा कि वे पचे नहीं। पारा पच जाने पर शक्ति प्रदान करता है किन्तु यदि वह नहीं पचता तो शरीर में से फूटकर निकलने लगता है। इसी प्रकार बिना पचे त्याग और तपस्या रोग का रूप धारण कर लेते हैं और व्यक्ति तथा समाज के शरीर को फोड़कर बाहर निकलने लगते हैं।

जो बात त्याग और तपस्या के लिये है, वही विद्या के लिये भी है। पचा हुआ ज्ञान जीवन में गंभीरता और उदारता लाता है। जिस व्यक्ति के जीवन में अनेकांत उतर गया वह दूसरे की निंदा नहीं करेगा किन्तु बिना पचे वही मिथ्याभिमान का कारण बन जाता है, उसके

गीत गाकर हम अपने को बड़ा और दूसरे को छोटा दिखाने का प्रयत्न करते रहते हैं ।

जिस व्यक्ति ने अहिंसा को पचा लिया वह सभी को अपना मित्र समझेगा । जिस व्यक्ति को हम अपना मित्र समझते हैं उसकी उन्नति से प्रसन्न होते हैं । यदि दूसरे की प्रगति से मन में ईर्ष्या होती है तो इसका अर्थ है हमने उसे मित्र नहीं समझा । ऐसी स्थिति में हम अहिंसा के विषय में कितनी ही बातें करें, यह मानना होगा कि वह पची नहीं केवल उसका नाम लेकर हम अपने गहँकार की पुष्टि कर रहे हैं ।

हम जिस परंपरा को मानते हैं उसमें अच्छे सिद्धान्तों का होना प्रसन्नता की बात है, किन्तु इतने मात्र से कार्य पूरा नहीं होता । हम उसके अनुयायी दो प्रकार से हो सकते हैं । पहला प्रकार उनका ढिंडोरा पीटकर अपनी अस्मिता का पोषण है । दूसरा प्रकार उन्हें जीवन में उतारना है । प्रथम प्रकार एक उन्माद है । दूसरा आत्मशुद्धि । पहला अहंकार की पुष्टि करता है और दूसरा विनय की । पहला वैषम्य बुद्धि को जन्म देता है और दूसरा समता को ।

जैनधर्म अपने प्रारंभ से ही द्वितीय मार्ग को महत्व देता रहा है । बाह्यवेष भूषा तथा उन्माद को छोड़कर आत्मशुद्धि का मार्ग प्रस्तुत करता है । आवश्यकता इस बात की है कि अनुयायी वर्ग उसे मिथ्या अभिमान की वस्तु न समझे, तभी यह कहा जा सकेगा कि धर्म उसे पच गया ।



सत्य और शक्ति

| ८

शास्त्रों ने सत्य की खोज पर बल दिया और बताया कि उसे प्राप्त कर लेने पर सारी समस्याएँ सुलभ जायेंगी। वास्तव में देखा जाय तो समस्याएँ नहीं सुलभ होतीं किन्तु साधक में भावना भर दी जाती है कि वह उन्हें समस्या न समझे। दुःख और सुख संपत्ति और विपत्ति, प्रत्येक परिस्थिति में समान रहे। सत्य की उपासना का अर्थ है बाह्य जगत को मिथ्या या निस्सार समझना। यह समस्याओं के साथ संघर्ष का मार्ग नहीं है किन्तु उनसे भागने का है। धर्म का कथन है कि हमारा मन इतना मजबूत हो जाना चाहिए कि उस पर बाह्य उथल-पुथल का प्रभाव न पड़े।

दूसरी ओर शक्ति का अर्थ है अपनी इच्छाओं को पूर्ण करने का सामर्थ्य। इसे प्राप्त करने के अनेक मार्ग हैं। व्यापारी इसके लिए धन संग्रह करता है। नेता सङ्गठन द्वारा जनसंग्रह करता है। कोई इसे राजनीतिक अधिकारों द्वारा पूर्ण करना चाहता है, कोई सर्व-साधारण की भावनाओं को उभार कर।

प्राचीन काल से दोनों लक्ष्य चले आ रहे हैं। कुछ लोग जीवन की समस्याओं से तंग आकर ऐसे क्षेत्र की खोज में लग गए जहाँ वे नहीं हैं। उन्हें इस बात की चिन्ता नहीं थी कि वहाँ पहुँचकर क्या मिलेगा। वे केवल वर्तमान से छुटकारा पाना चाहते थे। उस लक्ष्य का वर्णन आनन्द, ज्ञान, सत्ता आदि के रूप में किया गया है, किन्तु इन शब्दों का कोई विध्यात्मक अर्थ नहीं है।

आधुनिक शब्दों में हम इसे निषेधात्मक लक्ष्य कह सकते हैं ।

दूसरा लक्ष्य धन-सम्पत्ति, राज्य, अधिकार आदि की प्राप्ति तथा इच्छा-तृप्ति से सम्बन्ध रखता है । हम यह जानते हैं कि इस लक्ष्य के साथ संघर्ष कष्ट, चिन्ता तथा विफलतायें जुड़ी हुई हैं । फिर भी इसके लिए प्रयत्नशील रहते हैं ।

जो व्यक्ति संवेदनशील भावुक तथा शांतिप्रिय होता है वह प्रथम लक्ष्य को पसन्द करता है । इसके विपरीत जो कर्मशील तथा महत्वाकांक्षी होता है वह दूसरे को । भारतीय दर्शनों ने इनका विभाजन सात्विक और राजस लक्ष्य के रूप में किया है । धर्म प्रथम लक्ष्य को महत्व देता है और दूसरे को विलासिता या आध्यात्मिक पतन कह कर निंदा करता है । राजनीति दूसरे लक्ष्य को महत्व देती है और पहले को कायरता या जीवन-संघर्ष से भागना कहती है । धर्मसंस्था ने अपने प्रचार के लिए प्रलोभन के रूप में दूसरे लक्ष्य को भी उपस्थित किया किन्तु उसका सम्बन्ध अगले जीवन के साथ रक्खा । उसने बताया कि वर्तमान जीवन में त्याग करने से अगले जीवन में वे ही भोग हज़ारोंगुणी मात्रा में प्राप्त होंगे । दूसरी ओर राजनीति ने साधारण जनता को बरगलाने के लिए प्रथम लक्ष्य की बातें कहना प्रारम्भ किया । एक वर्ग ने यहाँ तक कहा कि तुम अपनी वर्तमान सम्पत्ति हमें दे दो । इससे तुम्हें अगले जन्म में लाखों गुणी सम्पत्ति मिलेगी । इस शिक्षा के प्रभाव में आकर, भोली जनता ने सब कुछ भेंट करना आरंभ किया । पुरुषों ने धन-सम्पत्ति ही नहीं, पत्नी को भी उस वर्ग की भेंट कर दिया ।

जहाँ तक धर्म का प्रश्न है, हम इसे दो क्षेत्रों में विभक्त कर सकते हैं । बुद्धिजीवी वर्ग निषेधात्मक लक्ष्य की चर्चा करता रहा किन्तु वह साधारण वर्ग की समझ में न आया । फलस्वरूप धर्मजीवी वर्ग ने आकर्षण के रूप में द्वितीय लक्ष्य को उपस्थित किया । प्रथमलक्ष्य

ने क्रमशः दार्शनिक चर्चा का रूप ले लिया। उसका जीवन के साथ संपर्क हटता चला गया। बुद्धिजीवी वर्ग का एक भाग धर्म से विमुख हो गया और उसका खुला विरोध करने लगा। दूसरे भाग ने उसे अपनी स्वार्थ सिद्धि का साधन बना लिया। भोली जनता को तरह-तरह के प्रलोभन देकर अपना भक्त बनाने लगा। इस प्रकार वह स्वयं धर्म-नेता बन गया और अनुयायी वर्ग उसकी उचित एवं अनुचित कामनाओं को पूर्ण करने लगा।

वर्तमान मानव के सामने यह प्रश्न है कि वह सत्य की उपासना करे या शक्ति की। प्राचीन समय में धर्म-संस्था ने भौतिक आकर्षणों की बहुत निन्दा की। ऐसा वातावरण खड़ा कर दिया कि बहुत-से लोग उन्हें हेय मानने लगे। उनसे विमुख होकर सत्य की खोज में लग गये। उन्होंने देखा कि व्यक्ति जब तक समाज की सहायता पर निर्भर है, तब तक उसकी बुराइयों को दूर नहीं किया जा सकता। फलस्वरूप अपनी आवश्यकताओं को घटाना प्रारम्भ किया। सब कुछ छोड़कर भिक्षा पर रहने लगे। शरीर की ममता भी कम कर दी। वर्तमान युग में भी विज्ञान तथा अन्य क्षेत्रों में कुछ व्यक्ति ऐसे मिलते हैं जो अन्य आकांक्षाओं को छोड़ कर विद्या या किसी अन्य तत्व की खोज में लगे हुए हैं। किन्तु इस प्रकार की साधना सर्व-साधारण के जीवन का लक्ष्य न बन सकी। सत्य की बातें करने पर भी मनुष्य शक्ति का उपासक बना रहा।

महाभारत के शांतिपर्व में ये दोनों मनोवृत्तियाँ मिलती हैं। युद्ध के अन्त में युधिष्ठिर का मन अत्यन्त क्षुब्ध हो उठा। उन्होंने वन में जाने का निश्चय कर लिया और कहा मैं वहाँ अपने आप गिरे हुए फल और पत्ते खाकर गुजारा कर लूँगा। खून से सने हुए इस सिंहासन पर नहीं बैठना चाहता। दूसरी ओर भीम और अर्जुन ने कहा यदि वन में ही जाना था तो यह नर-हत्या क्यों की? दूसरे को मारे तथा धोखा दिए

बिना सम्पत्ति प्राप्त नहीं होती। अब हमारा एक ही काम होना चाहिए कि इतने कष्ट से जो सम्पत्ति प्राप्त की है, उसे आनन्दपूर्वक भोगें। व्यर्थ की आध्यात्मिक चर्चा में न पड़ें। सन्यास तो कायरों का मार्ग है।

धर्म संस्था ने सत्य को बहुत बड़ा बल बताया है, किन्तु यह विचारणीय है कि यह समस्याओं को सुलझाने में कहाँ तक सफल हुआ ? हजारों वर्ष बीतने पर भी वह मनुष्य को अपनी ओर आकृष्ट न कर सका, प्रत्युत वह स्वयं अधिकार लोलुप वर्ग का साधन बना रहा। वर्तमान युग में अधिकारी वर्ग विभिन्न प्रकार के प्रचार द्वारा साधारण जनता को अपनी ओर आकृष्ट करने का प्रयत्न कर रहा है। यही कार्य प्राचीन समय में धर्म-संस्था के द्वारा किया गया। परलोक में विभिन्न प्रकार के प्रलोभन दे कर वर्तमान जीवन में अधिक से अधिक त्याग करने को कहा गया। इस प्रकार सत्य और धर्म का प्रचार शक्ति संचय का साधन बनकर रह गया।



प्रचार के तीन रूप | ६

सङ्गठन और व्यक्ति प्रचार के लिए जो उपाय काम में लाते हैं उन्हें स्थूल रूप से तीन श्रेणियों में विभक्त किया जा सकता है—

१. दमन—भय उत्पन्न करके दूसरे को अपनी इच्छानुसार चलाना। इसका मुख्य बल हिंसा है।

२. प्रलोभन—धन-संपत्ति, पदोन्नति, प्रतिष्ठा आदि का लोभ देकर अपना स्वार्थ पूरा करना।

३. सम्मोहन—प्रत्यक्ष भय तथा प्रलोभन न होने पर भी दूसरे व्यक्ति में यह भावना उत्पन्न करना कि व्यक्ति विशेष या पुस्तक विशेष की आज्ञाओं का पालन उसका कर्तव्य है। यहाँ इस बात पर बल दिया जाता है कि व्यक्ति अपनी बुद्धि या विचार शक्ति से काम लेना छोड़ दे। सम्मोहन से सम्बद्ध भय और प्रलोभन भी इसी कोटि में आते हैं।

राज्य-संस्था अपनी शक्ति की वृद्धि के लिए उपर्युक्त तीनों उपाय काम में लाती है। शत्रु का दमन तथा अपराधों की रोकथाम के लिए दमन की नीति अपनाई जाती है। सामन्त वर्ग को अपने साथ रखने के लिए प्रलोभन दिए जाते हैं। साधारण वर्ग से अपनी इच्छानुसार काम लेने के लिए देशभक्ति, राष्ट्रीयता, स्वामि-भक्ति आदि मोहक शब्द घड़े जाते हैं। और उन्हें कर्तव्य के रूप में प्रस्तुत किया जाता है। प्रत्येक व्यक्ति को कहा जाता है कि यह उसका कर्तव्य है। चाहे इसके लिए प्राण चले जाय।

राजनीतिक सङ्गठनों को दो दलों में विभक्त किया जा सकता है ।

१. सत्तारूढ़ और २. सत्तालोलुप ।

सत्तारूढ़ दल में दमन-शक्ति अधिक होती है । एक ओर वह बाह्य शत्रुओं और अपराधों का दमन करता है, दूसरी ओर विरोधी विचारों का । जब राजा या सत्तारूढ़ व्यक्ति को किसी दूसरे पर आक्रमण करना होता है तो वह सामन्तों और सेनाधिकारियों को प्रलोभन देता है । पराजित राज्य की सम्पत्ति एवं सुन्दरियों का आकर्षक चित्र उपस्थित करता है । सर्व-साधारण को अपने अनुकूल बनाने के लिए सम्मोहन की नीति अपनाता है । इसके लिए धर्मगुरुओं को खरीद लेता है । और उनके द्वारा प्रचार कराता है कि प्रत्येक प्रजाजन को राजा की उचित एवं अनुचित सभी आज्ञाओं का पालन करना चाहिए । राजा के सुख को अपना सुख और राजा की समृद्धि को अपनी समृद्धि माननी चाहिए । वर्तमान समय में यह बात देश-भक्ति, राष्ट्रीयता आदि के नाम पर की जाती है । इन शब्दों का वास्तविक अर्थ कुछ भी हो शासक वर्ग उन्हें अपने व्यक्तित्व के साथ जोड़ देता है । सर्व-साधारण में यह प्रचार करता है कि वह देश और राष्ट्र का प्रतीक है । उसकी भक्ति ही देश-भक्ति है और उसकी आज्ञा का पालन ही राष्ट्रीयता है ।

जहाँ तक सर्व-साधारण का सम्बन्ध है लोकतन्त्र में दमन का महत्व नहीं रहा । फिर भी अप्रत्यक्ष भय बताकर बौद्धिक व्यामोह उत्पन्न किया जाता है । सत्तारूढ़ दल यह प्रचार करता है कि दूसरे दल के पदारूढ़ होने पर किस प्रकार कष्ट बढ़ जावेंगे । उदाहरण के रूप में कांग्रेस-दल यह प्रचार करता है कि साम्यवाद के आने पर धर्म निर्वासित हो जाएगा । दूसरी ओर जनसंघ के पदारूढ़ होने पर साम्प्रदायिकता एवं प्रतिक्रियावाद को प्रोत्साहन मिलेगा । विचारपूर्वक देखा जाय तो इसका अर्थ है परस्पर विरोधी दोनों पक्षों का खंडन । इसका यह आशय है

कि कांग्रेस अपने आप में कुछ नहीं चाहती। न वह साम्प्रदायिकता का उन्मूलन चाहती है और न उसे प्रश्रय देना चाहती है। विभिन्न शब्दों द्वारा दोनों का खंडन करके केवल अपना अस्तित्व बनाए रखना चाहती है। एकतन्त्र के समान लोकतन्त्र में भी पदारूढ़ और दलीय नेताओं को प्रलोभन दिया जाता है। दूसरी ओर सर्व-साधारण को व्यामोह में डालने के लिए आकर्षक योजनायें बनाई जाती हैं। भावी सुख का आश्वासन देकर वर्तमान कष्ट को घेर्यपूर्वक सहने के लिए कहा जाता है। साथ ही इस बात पर बल दिया जाता है कि कल्याण की प्राप्ति उसी दल के सत्तारूढ़ रहने पर हो सकती है। उसके पदच्युत होने पर भविष्य अंधकारमय हो जायेगा।

सत्तारूढ़ वर्ग में दमन का रूप जितना प्रबल होता है, सत्ता-लोलुप में नहीं होता। फिर भी यह नहीं कहा जा सकता कि वहाँ इसका अभाव है। सत्ता-लोलुप सङ्गठन तथा अनुशासन के नाम पर स्वतन्त्र विचारकों एवं विरोधियों का दमन करता है। वहाँ जिस दल के हाथ में बहुमत होता है वह अपनी इच्छानुसार कार्य करता है उस बहुमत पर भी दो चार प्रभावशाली व्यक्तियों का आधिपत्य होता है जिसकी उनके साथ नहीं बनती या जो उन्हें प्रसन्न नहीं रख सकता, उसे आगे नहीं आने दिया जाता। इतना ही नहीं उसका संगठन में रहना भी कठिन हो जाता है। फलस्वरूप जिस व्यक्ति में महत्वाकांक्षाएँ प्रबल होती हैं वह कृपा प्राप्त करने के लिए उनका समर्थन करता चला जाता है। इसके लिए अंतरात्मा की आवाज को दबा देता है। यदि ऐसा नहीं करता तो संगठन छोड़ने के लिए विवश हो जाता है। ऐसी स्थिति में उसका सार्वजनिक जीवन सदा के लिए समाप्त हो जाता है। कुछ व्यक्ति ऐसे भी होते हैं जिन्हें वैयक्तिक रूप से अनुयायियों का समर्थन प्राप्त होता है। वे नया संगठन खड़ा कर लेते हैं और प्राचीन संगठन के साथ संघर्ष में जुट जाते हैं। इस प्रकार राजनीति, दलीय संघर्ष का अखाड़ा बन जाती है।

जिस प्रकार राजा अपने सामन्तों को प्रलोभन देता है इसी प्रकार सत्ता लोलुप दल का नेता भी अपने साथियों को प्रलोभन देता है। वे दो प्रकार के होते हैं—प्रथम प्रकार उन आश्वासनों का है जिनकी प्राप्ति विजय के पश्चात् बताई जाती है। द्वितीय प्रकार वर्तमान संगठन में प्रतिष्ठा एवं उच्च पदों का है।

वर्तमान में असंतोष मनुष्य की स्वाभाविक वृत्ति है। सत्तालोलुप दल का नेता इस तथ्य से लाभ उठा कर सर्व साधारण को सत्तारूढ़ वर्ग के विरुद्ध उभारता है, क्रांति के लिए उत्तेजित करता है। वर्तमान व्यवस्था के पलट जाने पर जो नई व्यवस्था आएगी उसका मोहक-चित्र उपस्थित करता है।

प्राचीन समय में राजा को ईश्वर का अवतार माना जाता था। धर्म और राजनीति दोनों पर एक ही व्यक्ति का प्रभुत्व होता था। राजदंड ही धर्मदंड था। किन्तु धीरे-धीरे दोनों संस्थाएँ पृथक् होती चली गईं। राज्यसंस्था ऐहिक दंड और प्रलोभन पर टिकी रही। और धर्मसंस्था पारलौकिक भय एवं प्रलोभन पर। राज्यसंस्था ने जिन उपायों को प्रत्यक्ष रूप में अपनाया धर्म संस्था ने उन्हीं को अप्रत्यक्ष रूप में, किन्तु यह नहीं कहा जा सकता कि प्रत्यक्ष की तुलना में अप्रत्यक्ष का प्रभाव कम था। धर्म संस्था का इतिहास इस बात का साक्षी है कि अप्रत्यक्ष कष्टों से बचने के लिए श्रद्धालु जनता ने बड़े से बड़े प्रत्यक्ष सुखों एवं प्रलोभनों को ठुकरा दिया। दूसरी ओर अप्रत्यक्ष सुखों की प्राप्ति के लिए भयंकर कष्ट एवं यातनाएँ सहें। फिर भी अप्रत्यक्ष भय और प्रलोभनों को सम्मोहन की कोटि में रखना अधिक उपयुक्त होगा। क्योंकि उनका मुख्य आधार बौद्धिक व्यामोह होता है। जो व्यक्ति विश्वास नहीं करता उस पर उन बातों का कोई असर नहीं होता। इसके विपरीत प्रत्यक्ष भय और प्रलोभन विश्वास पर आधारित नहीं होते।

राजनीति और धर्म परस्पर भिन्न उद्देश्यों को लेकर चलते हैं। राजनीति अधिकार पर बल देती है और धर्म कर्तव्य पर। राजनीति इच्छाओं एवं महत्वाकांक्षाओं की वृद्धि का मार्ग है और धर्म उनके संकोच का। राजनीति भोग और ऐश्वर्य को लक्ष्य में रखकर चलती है धर्म त्याग और आर्किचन्य को। राजनीति अहंकार का पोषण करती है और धर्म नम्रता सिखाता है। किन्तु जब धर्म संगठन का रूप ले लेता है तो राजनीति से भिन्न नहीं रहता।

धर्मसंस्था ने स्वर्ग के प्रलोभन दिए। अनुयायियों को कहा कि इस जन्म में त्याग एवं तपस्या करने से दूसरे जन्म में समस्त कामनाएँ पूरी हो जाएँगी, इस जन्म में ब्रह्मचर्य का पालन करने से स्वर्ग में अप्सराएँ मिलेंगी। जिनका सौन्दर्य सर्वातिशायी और यौवन स्थायी होता है। इस जन्म में दान देने से स्वर्ग में ऐसे विमान मिलेंगे जहाँ रत्नों के ढेर पड़े हैं। मुसलमानों से कहा गया कि इस जन्म में मदिरा त्याग करने से बहिस्त में शराब के भरने मिलेंगे। जिन बातों को इस जीवन में पाप बताया गया, उन्हीं का बहिस्त में प्रलोभन दिया गया।

दूसरी ओर दोजख या नरक के भय बताए गए। यह कहा गया कि जो व्यक्ति पराई स्त्री के साथ संबंध करता है उसे तपे हुए लौहस्तंभ का आलिगन करना होगा। जो मदिरापान करता है उसके मुँह में तपा हुआ सीसा उँडेला जाएगा। जो दूसरे के हाथ पैर कान आदि किसी अंग का छेदन करता है उसके उसी अंग को बारबार छेदन किया जाएगा।

यह कहना ठीक नहीं है कि इन प्रलोभनों और भयों का कोई प्रभाव नहीं हुआ, निस्सन्देह उन्होंने साधारण मानव को बुरे कार्यों से रोका और अच्छे कार्यों में प्रवृत्त किया। साथ ही यह भी मानना होगा कि वर्ग

विशेष दूसरों को अप्रत्यक्ष भय और प्रलोभन बताकर स्वयं प्रत्यक्ष लाभ उठता रहा ।

वर्तमान समय में बौद्धिक जागरण के साथ ये प्रभाव समाप्त होते जा रहे हैं । दूसरी ओर धर्मजीवी वर्ग की बोखलाहट बढ़ रही है । वह चिल्ला-चिल्लाकर कह रहा है कि इस प्रकार धर्म का ह्रास होता गया और पाप बढ़ता गया तो प्रलय आ जाएगा, वह प्रत्येक प्राकृतिक एवं मनुष्य कृत उपद्रव को धार्मिक अश्रद्धा का फल बताता है, कहीं भी कोई दुर्घटना हो जाती है तो चिल्लाकर कहता है कि यह सब पाप वृद्धि का फल है ।

किन्तु वैज्ञानिक युग का वर्तमान मानव इस बोखलाहट को सुनने के लिए तैयार नहीं है ।

वास्तव में देखा जाए तो धार्मिक संगठन स्वयं धर्म से दूर हटे जा रहे हैं । उन्हें नैतिकता या सदाचार की उतनी चिन्ता नहीं है जितनी साम्प्रदायिक प्रचार और प्रभाव की । धर्मगुरु, ईश्वर और सत्य के प्रतिनिष्ठा श्रद्धा, भक्ति आदि की बातें करते हैं किन्तु वास्तव में देखा जाए तो उनके स्थान पर अपने को बैठाना चाहते हैं । वे अपने को ईश्वर, धर्म, सत्य, सदाचार आदि समस्त उपास्यों का प्रतीक मानते हैं । अनुयायी वर्ग से यह आशा रखते हैं कि उन्हें समस्त गुणों का केन्द्र मानें । इतना ही नहीं उनके व्यवहार को गुण और दोष का निर्णायक समझें । अर्थात् वे जो कुछ करते हैं वह गुण है । और जो उन्हें पसंद नहीं हैं वह दोष है । ऐसी स्थिति में सम्मोहन अपनी पराकाष्ठा पर पहुँच जाता है । और धर्म गुरु के साथ संबंध होने पर असत्य दुराचार आदि दोषों को भी गुण मान लिया जाता है ।

सामाजिक संगठनों का लक्ष्य परस्पर सहयोग द्वारा प्रत्येक सदस्य की सुख समृद्धि होती है । व्यावसायिक संगठन परस्पर सहयोग

द्वारा व्यवसाय की उन्नति के लिए होते हैं। कलाकार कला के विकास के लिए संगठन करते हैं। किन्तु अधिकार लिप्सा में पड़कर सभी राजनीति का रूप ले लेते हैं और अपनी-अपनी शक्ति की वृद्धि के लिए उपयुक्त उपाय खोजने लगते हैं।



प्रदीप क्यों बुझ गया ?

मैंने हवा के झोकों से बचाने के लिए उसे अपनी चद्दर से ढक दिया, और वह शुद्ध वायु न मिलने के कारण बुझ गया।

फूल क्यों मुरझा गया ?

मैंने उसे तोड़कर अपनी छाती से चिपका लिया और वह मुरझा गया।

—महाकवि रवीन्द्र

तीन प्रेरणायें

| १०

हमारे जीवन को अगणित तत्त्व प्रेरित करते रहते हैं। स्थूल रूप में उन्हें तीन श्रेणियों में विभक्त किया जा सकता है। १. उन्माद २. प्रलोभन और ३. आवश्यकता। उन्माद का अर्थ है, वे प्रेरणायें जो कि विचार-शक्ति कुंठित कर व्यक्ति को किसी अज्ञात शक्ति के हाथ में कठपुतली बना देती है। जहाँ हम सुध-बुध खोकर दौड़ते चले जाते हैं कि यह नहीं समझते कि हम क्यों दौड़ रहे हैं। प्रलोभन का अर्थ है धन-सम्पत्ति, इन्द्रिय-तृप्ति, वासना-पूर्ति या प्रतिष्ठा आदि के आकर्षण। उनसे अभिभूत व्यक्ति औचित्य-अनौचित्य को समझता तो है किन्तु स्वार्थ के वशीभूत होकर ध्यान नहीं देता। वहाँ विचार-शक्ति कुंठित नहीं होती, किन्तु स्वार्थ की प्रेरणा बलवती हो जाती है। आवश्यकता का अर्थ है स्वाभाविक अभाव की अनुभूति। शरीर में आहार की कमी होने पर भूख या प्यास लगती है। राग-द्वेष आदि आवेगों से अभिभूत होने पर मन उनसे छुटकारा पाना चाहता है। आत्मा बाह्य विकारों से दब जाने पर स्वाभाविक निर्मलता प्राप्त करना चाहता है। ये आवश्यकतायें प्राणी को विभाव से स्वभाव में आने का संकेत करती हैं।

प्राचीन काल से धर्म, राजनीति आदि सभी क्षेत्रों में तीनों तत्त्व काम कर रहे हैं। जब प्रतिभा-सम्पन्न व्यक्ति अपनी महत्वाकांक्षाओं की पूर्ति के लिए संगठन खड़े करते हैं और उनके लिए वैयक्तिक विकास की उपेक्षा करने लगते हैं तो प्रथम दो तत्त्व काम में लाये जाते हैं। इसके विपरीत जब व्यक्ति के कल्याण की भावना बलवती होती है

तो तीसरा तत्त्व काम में आता है। प्रथम दो तत्त्वों द्वारा नेता अपने स्वार्थ की पूर्ति करते हैं और तृतीय तत्त्व द्वारा जन-साधारण अपना हित साधन करता है।

राजनीति के क्षेत्र में उन्मादराष्ट्रीयता, देशभक्ति, जाति-सेवा आदि के रूप में उत्पन्न किया जाता है। सर्व-साधारण में ऐसे संस्कार जमाए जाते हैं जिनसे वह अपने वर्ग को श्रेष्ठ और दूसरे को हीन समझे। दूसरे की निर्मम हत्या लूट और बलात्कार को अपने वर्ग की सेवा माने। इस प्रकार वैयक्तिक अहङ्कार तथा क्रूर प्रवृत्तियाँ जब सामूहिक अहङ्कार का रूप ले लेती हैं तो उनके गुण गाए जाने लगते हैं। वहाँ सभी पाप पुन्य बन जाते हैं।

प्रायः यह भी देखा गया है कि राजा या नेता के रूप में एक व्यक्ति राष्ट्र या जाति का प्रतीक बन जाता है। प्रत्येक प्रजाजन उसके सम्मान को अपना सम्मान और उसके अपमान को अपना अपमान मानने लगता है। इतना ही नहीं, उसकी अनर्गल महत्वाकांक्षाओं और पाशविक लालसाओं को पूर्ण करना भी अपना कर्त्तव्य समझता है। युद्धों का इतिहास इस तथ्य का साक्षी है। प्राचीन तथा मध्यकाल में हजारों युद्ध ऐसी बातों के लिए लड़े गए। शासक राज्य-वृद्धि की महत्वाकांक्षा से प्रेरित होकर अथवा दूसरे राज्य की किसी सुन्दरी को प्राप्त करने के लिए आक्रमण कर देता था और उसका साथ देना प्रत्येक प्रजाजन का धर्म समझा जाता था। अपने राजा, प्रदेश, जाति या वर्ग के गुण गाकर तथा दूसरे के विरुद्ध घृणात्मक प्रचार द्वारा यह उन्माद उत्पन्न किया जाता था। साथ ही स्वर्ग की अप्सराओं का प्रलोभन दिया जाता था। विवेक को देशद्रोह, नास्तिकता आदि शब्दों द्वारा दबाया जाता था। अनुशासन के गीत गाकर प्रत्येक सैनिक को बिना-बिचारे आज्ञा-पालन के लिए विवश किया जाता था। उसे अपने राजा के विरुद्ध सोचने में भी 'भय' लगता था।

इस उन्माद से मुक्ति प्राप्त करने के लिए राज्य-व्यवस्था में परिवर्तन होते चले गए और उसने वर्तमान लोकतन्त्र का रूप ले लिया। सार्वभौम सत्ता विकेन्द्रित होती चली गई। प्रथम राजा के पास संविधान, व्यवस्था, न्याय तथा सुरक्षा सभी अधिकार थे। वही कानून बनाता और पालन कराता था। मतभेद या झगड़ा होने पर अपनी इच्छानुसार न्याय देता था। धीरे-धीरे संविधान का काम अनुभवी ऋषियों ने ले लिया, व्यवस्था का मन्त्री परिषद् ने और सुरक्षा का सेनापति ने। राजा के पास केवल न्याय रह गया। वहाँ भी उसकी सार्वभौम सत्ता नहीं रही। इस प्रकार एक ओर उसके अधिकार घटते चले गए, दूसरी ओर जन-साधारण के अधिकार बढ़ते चले गए। एक दिन दोनों समकक्ष हो गए। इसी का नाम 'लोकतन्त्र' है। यहाँ प्रेरणा का स्रोत उन्माद या प्रलोभन न होकर जन-साधारण का स्वाभाविक जागरण होता है।

धर्म-संस्था का प्रादुर्भाव उन महापुरुषों ने किया जो दवे हुए निजी व्यक्तित्व को स्वतन्त्र करना चाहते थे। उन्होंने देखा कि घन-सम्पत्ति, परिवार, यश-कीर्ति आदि का मोह हमारे व्यक्तित्व को स्वाभाविक नहीं रहने देता। आकांक्षायें, राग और द्वेष को जन्म देती हैं और उनसे अभिभूत होने पर आत्मा अपनी स्वाभाविक निर्मलता खो देती है। उन्होंने गम्भीर चिन्तन द्वारा व्यक्तित्व का विश्लेषण किया और यह प्राप्त किया कि प्रतीयमान जड़ अस्तित्व के पीछे कोई चेतन अस्तित्व छिपा हुआ है। बाह्य व्यक्तित्व नश्वर है और आभ्यन्तर शाश्वत। उसके अभिव्यक्त हो जाने पर सारी समस्याओं का समाधान हो जायेगा।

धर्म का यह रूप स्वाभाविक प्रेरणा को लिए हुए था किन्तु धीरे-धीरे उसमें अहङ्कार का सम्मिश्रण होता गया और धर्म ने पंथ का रूप ले लिया। सहज प्रेरणा समाप्त हो गई। उसका स्थान प्रलोभन तथा उन्माद ने ले लिया। प्रत्येक परम्परा अपने-अपने अनुयायियों को

स्वर्ग की अप्सराओं और धन-सम्पत्ति का प्रलोभन देने लगी। जिन बातों को वर्तमान जीवन में हेय बताया गया उन्हीं का भावी जीवन में प्रलोभन दिया गया। मुसलमान को कहा गया—इस जीवन में शराब पीना छोड़ दो तो अगले जन्म में 'वहिष्ट' मिलेगा जहाँ शराब के भरने बहते हैं। इस जन्म में ब्रह्मचर्य का पालन करने से स्वर्ग में हजारों की संख्या में अप्सरायें मिलेंगी। जिनका सौन्दर्य सर्वातिशायी है और जिनमें कभी बुढ़ापा नहीं आता। सदा युवती बनी रहती हैं इस जन्म में दान देने से या सम्पत्ति का त्याग करने से स्वर्ग में ऐसे विमान मिलेंगे जिनमें रत्नों के ढेर लगे हैं। बताने की आवश्यकता नहीं है कि इन प्रलोभनों ने धर्म को आत्म-शुद्धि का मार्ग नहीं रहने दिया। वह वर्तमान जीवन में असफल, संघर्ष से डरनेवाले तथा अतृप्त कामनाओं से घिरे हुए व्यक्तियों के लिए भूठी शान्ति बना गया।

धर्म ने अहङ्कार या मोह को समस्त पापों की जड़ बताया है। राग, द्वेष, तृष्णा, अविद्या, क्लेश, आवरण आदि शब्द उसी के विभिन्न रूपों को प्रकट करते हैं। वास्तव में देखा जाय तो ये सभी एक प्रकार के उन्माद हैं जो हमारी विचार-शक्ति को समाप्त कर देते हैं। इनसे अभिभूत व्यक्ति सत्यासत्य या भले बुरे का निर्णय नहीं करने पाता। जैन-शास्त्रों में इस उन्माद के आठ भेद बताए गए हैं। किसी को अपने सम्प्रदाय का उन्माद होता है, किसी को अनुयायियों का, किसी को विद्या का, किसी को तप का, किसी को पूर्वजों का और किसी को वेषभूषा का। धर्म सब प्राणियों के साथ मित्रता का सन्देश देता है। "समता" उसका सर्वस्व है। किन्तु वही जब अहङ्कार बन जाता है, तो व्यक्ति समता के स्थान पर विषमता का उपासक बन जाता है। अपने को उत्कृष्ट और दूसरे को निकृष्ट समझने लगता है।

हजरत मुहम्मद ने रहम अर्थात् दया को सबसे बड़ा धर्म बताया है। वहाँ खुदा को रहीम कहा जाता है जिसका अर्थ है 'दया करने

वाला।' किन्तु जब इस्लाम उन्माद बन गया तो उसका प्रचार करने के लिए तलवार से काम लिया जाने लगा। मुसलमान शासकों ने सैनिक सङ्गठन किए और दूसरे देशों में जाकर कत्ले-आम प्रारम्भ कर दिया। उनका एक ही नारा था—'गैर-मुसलमानों की जीने का अधिकार नहीं है। उनके प्राण लेना धर्म की सेवा है।'

धर्म मनुष्य की पाशविक वृत्तियों पर अंकुश रखता है। किन्तु जब वह उनका गुलाम हो जाता है तो किसी प्रकार की मर्यादा नहीं रहती। हिंसा और कामुकता, लोभ आदि प्रवृत्तियाँ नग्न हो कर ताण्डव करने लगती हैं। नादिरशाह, चंगेज खाँ, औरङ्गजेब आदि क्रूर आततायियों एवं शासकों के उदाहरण इसके साक्षी हैं।

ईसाई धर्म ने भी विश्व-बंधुत्व का सन्देश दिया था। किन्तु उसके अनुयायियों ने धर्म-परिवर्तन के लिए सैनिक अभियान प्रारम्भ किए। 'क्रूसेड' के नाम से धर्म-युद्ध सैकड़ों वर्षों तक चलता रहा। किन्तु वास्तव में देखा जाय तो वह युद्ध धर्म के स्थान पर अपने अहङ्कार की पूर्ति के लिए था। वह धर्म एक 'उन्माद' बन गया।

जैन-धर्म प्राणि-मात्र के साथ 'मित्रता' और 'समता' का सन्देश देता है। उसका कथन है कि जो व्यक्ति किसी के साथ एक वर्ष से अधिक समय तक शत्रुता रखता है उसे अपने आपको जैन कहने का अधिकार नहीं है। श्रावक और साधु का दर्जा तो और भी ऊँचा है। जैनधर्म का पर्युषण पर्व इसी तथ्य को प्रकट करता है। जो व्यक्ति उस दिन सच्चे हृदय से क्षमा-प्रार्थना करके सबके साथ मित्रता का सम्बन्ध स्थापित नहीं करता उसे अपने आपको 'जैन' कहने का अधिकार नहीं है। फिर भी जब नगण्य बातों को लेकर परस्पर आक्षेप प्रारम्भ हो जाते हैं शत्रुता की भावना व्यक्ति-विशेष के जीवन ही नहीं, पीढ़ियों तक चलती रहती है। अपने को उत्कृष्ट तथा दूसरे को

तीन प्रेरणायें

११५

निकृष्ट सिद्ध करने के लिए सभी प्रकार के छल तथा प्रवंचनाएँ होने लगती हैं। तो यही कहा जायेगा कि धर्म का स्थान उन्माद ने ले लिया है।

इस प्रकार जब दृष्टि आम्यन्तर से हटकर बाह्य तक सीमित हो जाती है तो 'धर्म' की आत्मा लुप्त हो जाती है। क्रोध, अहङ्कार, द्वेष आदि विकारों को दवाने के स्थान पर उन्हें प्रश्रय मिलने लगता है, धर्म का उन पर अंकुश नहीं रहता प्रत्युत वे धर्म के संचालक बन जाते हैं। वेश-भूषा और बाह्य प्रदर्शनों का महत्व बढ़ जाता है और उनके पीछे आत्म-शुद्धि की उपेक्षा होने लगती है।

आवश्यकता इस बात की है कि धर्म को उन्माद तथा प्रलोभन के क्षेत्र से निकालकर पुनः आत्म-विकास के क्षेत्र में प्रतिष्ठित किया जाय। तभी वह 'उद्धारक' बन सकेगा।



श्रद्धा की तीन अवस्थाएँ

१०

श्रद्धा का अर्थ है दूसरों के प्रति आदर भावना । इसका प्रारम्भ गुणों से होता है । हम जिस व्यक्ति को गुणी मानते हैं, उसके प्रति श्रद्धा करते हैं । गुणों की व्याख्या दो प्रकार से की जाती है ।

- (१) आदर्श के रूप में,
- (२) स्वार्थपूर्ति के आधार पर,

आदर्श की कल्पना सर्वत्र एकसी नहीं होती । प्राचीन संस्कार, सामाजिक वातावरण, शैक्षणिक स्तर तथा आध्यात्मिक चेतना के आधार पर उसके अनेक रूप हो जाते हैं । युद्धप्रिय जाति में पला बालक, आदर्श की कल्पना रणकौशल के आधार पर करेगा । व्यापारी का बालक धन-सम्पत्ति के आधार पर, विद्याजीवी ब्राह्मण का पुत्र विद्वत्ता के आधार पर । इसी प्रकार विभिन्न क्षेत्रों में, विभिन्न आदर्शों की कल्पना की जाती है । राजा या गृहस्थ के लिए वैभव आदर्श माना जाता है । संन्यासी के लिए उसी को बुरा समझा जाता है, वहाँ इसका स्थान यौगिक विभूतियाँ ले लेती है । जिस व्यक्ति का भुकाव सच्ची आध्यात्मिकता की ओर है वह त्याग के आधार पर आदर्श की कल्पना करता है । साम्प्रदायिक भेद के होने पर भी इस अवस्था में गुणों के आधार पर व्यक्ति की पूजा की जाती है ।

आदर्श की कल्पना का दूसरा आधार स्वार्थ-पूर्ति है । जो व्यक्ति हमारे उपयोग में आता है, हमें संकटों से बचाता है तथा आवश्यकता पड़ने पर सहायता करता है, हम उसके दोषों पर ध्यान नहीं देते । सर्वत्र

उसका गुणगान करते रहते हैं। पुत्र अपने पिता को आदर्श मानता है। शिष्य अपने गुरु को। इसी प्रकार राजा और समय पर काम आने वाले प्रतिष्ठित व्यक्ति को भी आदर्श मान लिया जाता है।

बहुत बार ऐसा भी होता है कि हम गुणों की स्वयं परीक्षा नहीं करते। जिस व्यक्ति को बहुत से लोग प्रतिष्ठा देते हैं, हम भी उसे मानने लगते हैं। प्रायः साधारण जनता इसी मनोवृत्ति को लेकर चलती है। वह इस बात को देखती है कि किस व्यक्ति के कितने अनुयायी हैं। उसके पीछे राजा, राज्याधिकारी तथा सम्पन्न व्यक्तियों की कितनी संख्या है। उसका ढोल कितने जोर से बजता है।

द्वितीय अवस्था में श्रद्धेय की प्रतिष्ठा हमारे वैयक्तिक अहंकार के साथ जुड़ जाती है। उपास्य के गुण गाकर उपासक अपने अहंकार का पोषण करता है। इसके लिए सच्चे-भूठे की परवाह नहीं करता। जब अनुयायियों में प्रतिस्पर्धा छिड़ जाती है, तो प्रत्येक वर्ग अपने उपास्य को दूसरे से ऊँचा सिद्ध करने का प्रयत्न करता है। उसके मन में उत्कृष्टता की जो धारणा होती है, तदनुसार उपास्य में आरोप करता है। पहलवानी को महत्त्व देने वाला अपने उपास्य को पहलवान बताता है। सम्पत्ति को महत्त्व देने वाला सम्पत्तिशाली। सौंदर्य को महत्त्व देने वाला सर्वांगसुन्दर और ज्ञान को महत्त्व देने वाला महाज्ञानी। जो वर्ग त्याग को महत्त्व देता है वह उसे सर्वोच्च त्यागी बताता है। धर्म, राजनीति आदि प्रत्येक क्षेत्र ने इसके लिए अपने-अपने साँचे तैयार कर रखे हैं, और उन्हें उपास्य के साथ जोड़ दिया है। फिर भी इतना अवश्य है कि इस अवस्था में ध्यान गुणों पर रहता है।

बहुत बार ऐसा भी होता है कि एक ही उपास्य पर परस्पर विरोधी गुणों का आरोप किया जाता है। उसे त्यागी कहा जाता है और वैभव-शाली भी। जिस समय जिस बात की प्रतिस्पर्धा होती है उस समय उसी गुण को महत्त्व दे दिया जाता है। परस्पर विरोध को दूर करने के लिए

एक बात को स्वाभाविक कहा जाता है और दूसरी को योगविभूति अथवा उपासकों द्वारा की जाने वाली भक्ति ।

राजनैति में यह श्रद्धा सिंहासन और वंश-पूजा का रूप ले लेती है । गद्दी पर बैठने वाले प्रत्येक व्यक्ति को आदर्श मान लिया जाता है और उस पर गुणों का आरोप किया जाता है । अनुजीवी वर्ग उसकी वेशभूषा, रहन-सहन, वार्तालाप, उठने-बैठने के प्रकार एवं व्यवहार का अनुकरण करता है । यदि वह नुकीली मूँछें रखता है, तो दरबारी भी वैसी ही मूँछें रखना आरम्भ कर देते हैं । उसके जीवन के साथ चमत्कार पूर्ण घटनाओं को जोड़ा जाता है ।

प्रतिष्ठा का यह रूप धार्मिक परम्पराओं पर भी छाया हुआ है । मुसलमानों की आगाखानी परम्परा में गद्दी पर बैठने वाले प्रत्येक आगाँखों को मुहम्मद की सन्तान माना जाता है और इसी आधार पर उसे सर्वोच्च प्रतिष्ठा दी जाती है । वह अरबों की सम्पत्ति रखता है, अनेक विवाह करता है, घुड़दौड़ में दाव लगाता है । सारा जीवन विलासिता में बिताता है । फिर भी धर्मगुरु के रूप में उसकी प्रतिष्ठा अक्षुण्ण है । हिन्दुओं में भी वल्लभ एवं अन्य सम्प्रदायों में धर्म गुरु का यही रूप है ।

तृतीय अवस्था में व्यक्ति अपने-आप में श्रद्धा का विषय बन जाता है । गुणों के कारण उसकी प्रतिष्ठा नहीं होती किन्तु उसकी प्रत्येक बात को गुण मान लिया जाता है । उसका उठना-बैठना, हँसना-बोलना, खाना पीना, खेलना, उपहास करना आदि प्रत्येक बात गुण बन जाती हैं और भक्त गण अनुकरण करने लगता है । भक्तिवाद इसका ज्वलन्त उदाहरण है । भगवान् कृष्ण का हँसना, बोलना, क्रीड़ा करना, गोपियों के साथ विलास आदि प्रत्येक वस्तु को आदर्श मान लिया गया । राम मंजीफा या शतरंज खेलते हैं, उसे भी अनुकरणीय बताया गया । गीतगोविन्द में कृष्ण की विलास क्रीड़ाओं का नग्नचित्रण है । यदि उनका सम्बन्ध किसी साधारण व्यक्ति से होता तो ऐसे साहित्य को अश्लील कहा जाता । किन्तु

राधा और कृष्ण का वर्णन होने के कारण उसे भक्ति साहित्य का अनुपम रत्न मान लिया गया ।

बहुत सी परम्पराओं में भगवान की उपासना पति या जार के रूप में की जाती है । वहाँ प्रत्येक भक्त अपने को स्त्री मानता है और ऐसी चेष्टाएँ करता है जैसी स्त्री अपने पति या उप-पति के सामने किया करती हैं । फलस्वरूप पुरुष भी साड़ी पहनते हैं, परस्पर सम्बोधन में स्त्री-लिंग का प्रयोग करते हैं और महीने में चार दिन रजःपला होने का स्वांग भी रचते हैं । परस्पर उपहास में सौतिया डाह को प्रकट करते हैं । बताने की आवश्यकता नहीं है कि इस अवस्था में आदर्श को सर्वथा तिलांजलि दे दी जाती है । गुणों के आरोप की आवश्यकता भी नहीं रहती । नैतिकता, ज्ञान, आध्यात्मिक योग्यता आदि का कोई मूल्य नहीं रहता ।

स्वार्थ-पूर्ति, अहंकार तथा कामवासना मनुष्य की स्वाभाविक वृत्तियाँ हैं । इनके लिए उसे दूसरे से सीखने की आवश्यकता नहीं है । धर्म का काम इन पर नियन्त्रण करना है । वह मनुष्य को हिंसक, अहंकारी तथा कामुक होने से बचाता है । इसीलिए प्रारम्भिक अवस्था में नहीं रुचता । किन्तु जब धम दमन के स्थान पर इनका पोषण करने लगता है तो अनुयायियों की कमी नहीं रहती ।

ईसा ने शत्रु को गले लगाने का उपदेश दिया । किन्तु उस समय उन्हें अनुयायी नहीं मिले । इतना ही नहीं उन्हें फाँसी पर लटका दिया गया, किन्तु जब क्रूसेड के नाम से धर्म युद्ध प्रारम्भ हुए और तलवार के बल पर दूसरों को ईसाई बनाने का अभियान चला तो अनुयायियों की बाढ़ आ गई । इस्लाम ने खुदा को रहीम कहकर रहम अर्थात् दया का उपदेश दिया । किन्तु वह गले न उतरा । इसके विपरीत जब उसने तलवार के बल पर दूसरों को मुसलमान बनाने का अभियान प्रारम्भ किया तो चगेज खां, कुबला खां, नादिरशाह आदि आततायी भी अपने को सच्चा मुसलमान कहने लगे । स्वार्थ, कामवासना एवं अहंकार के उन्माद में इन्होंने

लाखों व्यक्तियों को मौत के घाट उतार दिया और इसे धर्म की सेवा समझा ।

शैतान अपने असली रूप में मानव हृदय पर आक्रमण करते हुए कुछ हिचकिचाता है, इसके लिए वह धर्म का जामा पहिन लेता है । फिर कोई भिन्न नहीं रहती । भोग और मोक्ष दोनों में समन्वय हो जाता है । राजा ही धर्म गुरु बन जाता है । इसके लिए सिंहासन छोड़ने की आवश्यकता नहीं रहती अन्धकार को प्रकाश मान लिया जाता है और प्रकाश का नास्तिकता कहकर बहिष्कार होने लगता है । द्वितीय अवस्था में गुणों की ओर ध्यान रहता है । किन्तु तृतीय अवस्था में आलोक की वह किरण भी बुझ जाती है ।



तीन अभिशाप

| ११

वर्तमान विश्व के तीन अभिशाप हैं। राष्ट्रीयता, सांप्रदायिकता और जातिवाद। राष्ट्रीयता भौगोलिक सीमाओं को लेकर खड़ी हुई। उसके कारण वर्षों तक पड़ोस में रहने पर भी दो व्यक्ति अपने को भिन्न-भिन्न राष्ट्रों का सदस्य मानते हैं और एक दूसरे को संदेह की दृष्टि से देखते हैं। धर्म या सांप्रदायिकता का उभयात्मक प्रभाव रहा है। विध्यात्मक प्रभाव के रूप वह जीवन संचालन का मुख्य तत्त्व रहा है और निषेधात्मक प्रभाव के रूप में एक संप्रदाय दूसरे संप्रदाय को घृणा की दृष्टि से देखता रहा है। वर्तमान युग में विध्यात्मक प्रभाव प्रायः समाप्त हो चुका है अर्थात् धर्म हमारे जीवन का संचालक नहीं रहा, किंतु निषेधात्मक प्रभाव अभी तक शेष है। अब भी धर्म का नाम लेकर हम आपस में भगड़ते रहते हैं। इसका अर्थ है धर्म का धन-पक्ष समाप्त हो गया है, केवल ऋण-पक्ष शेष रहा है। जातिवाद को लेकर प्राचीन समय से युद्ध होते आ रहे हैं। वर्तमान युग में जातिभेद का जीवन के साथ अधिक सम्बन्ध नहीं रहा। समाज रचना में उसका विशेष हाथ नहीं है फिर भी जब नेताओं में परस्पर स्वार्थों का संघर्ष होता है, वे जाति-भेद को उभारने लगते हैं। लोकतन्त्र में जब चुनाव के लिए परस्पर प्रतिस्पर्धा चलती है, अनेक सुप्त संस्कारों को उभारा जाता है और जनमानस को विषाक्त बनाने का प्रयत्न किया जाता है।

प्रायः देखा गया है कि जिस व्यक्ति ने अपने जीवन में धर्म को कभी महत्व नहीं दिया, किसी विधि-विधान का पालन नहीं किया, वही चुनाव

आने पर धर्म के नाम पर मत मांगते हुए नहीं हिचकिचाता । इसी प्रकार जाति, प्रान्त, व्यवसाय आदि अनेक तत्वों को आधार बनाकर सर्व साधारण में परस्पर विद्वेष उत्पन्न करने की चेष्टा की जाती है ।

वैज्ञानिक विकास ने एक और समस्या खड़ी कर दी है । अणुशक्ति के आविष्कार से विभिन्नराष्ट्रों को जो शक्ति प्राप्त हुई है उससे समस्त विश्व में भय का वातावरण छा गया है । प्रत्येक राष्ट्र को अपनी रक्षा के लिए किसी गुट में सम्मिलित होने की चिन्ता पड़ गयी है । तटस्थ रह कर स्वतन्त्र विकास वाला राष्ट्र सर्वथा अरक्षित है । विनाश के भय से बचने के लिए उसका शक्तिशाली राष्ट्र के साथ गठ-बन्धन जरूरी है । इसका अर्थ है सुरक्षा के लिए स्वतन्त्रता का बलिदान, जो कि लोकतन्त्रीय भावना के प्रतिकूल है ।

बीसवीं शताब्दी के पूर्वार्ध में विश्व के सामने मुख्य प्रश्न सुरक्षा का रहा है । परिणामस्वरूप स्वतन्त्रता की अवहेलना की गई और सैनिक आर्थिक एवं अन्य संगठनों पर बल दिया गया । इस युग में तीन मांगें बलवती रही हैं । १. सुरक्षा २. सामाजिक न्याय तथा ३. जीवनस्तर को ऊँचा उठाना ।

पिछली दो शताब्दियों से विज्ञान का उत्तरोत्तर विकास हो रहा है । उसके कारण मनुष्य की क्रिया-शक्ति तथा वेग अत्यधिक बढ़ गये हैं । परिणामस्वरूप भय और दुर्घटनाओं की सम्भावना भी बढ़ती जा रही है । इस पर नियंत्रण करने के लिए अनेक प्रकार के प्रतिबन्ध लगाये जा रहे हैं और स्वतन्त्रता उत्तरोत्तर छीनी जा रही है । अमरीका ने अपने वैज्ञानिकों पर प्रतिबन्ध लगाया है कि वे किसी दूसरे से अणुशक्ति संबंधी वार्तालाप न करें । उनके रहन सहन और दिनचर्या पर भी कड़ी निगरानी रखी जाती है । रथ और बैलगाड़ी के युग में यात्रा सम्बन्धी कानून बनाने की आवश्यकता नहीं थी । उस समय दुर्घटनाएँ नहीं होती थी । यदि कहीं हो जाती थी तो भी साधारण चोट से अधिक नुकसान न होता था ।

मोटर और वायुयान के युग में भय की मात्रा बढ़ गई है। अतः सुरक्षा के लिए विविध प्रकार के नियन्त्रण आवश्यक हो गये हैं। परिणाम स्वरूप सुरक्षा ने स्वतंत्रता को समाप्त कर दिया। किंतु इसका यह अर्थ नहीं है कि हम सुरक्षित हो गये। पारस्परिक सन्देह के कारण जिन शस्त्रास्त्रों का निर्माण हो रहा है उनसे सभी का अस्तित्व खतरे में पड़ गया है। वर्तमान मानव न स्वतन्त्र है और न सुरक्षित।

विश्व का वातावरण ज्यों-ज्यों क्षुब्ध होता जा रहा है, आणविक अस्त्रों के प्रयोग की सम्भावना बढ़ती जा रही है, इन तथ्यों की उपेक्षा करके यदि यह मान लिया जाये कि अणुशक्ति का उपयोग युद्ध के लिए नहीं किया जायेगा तो भी अरक्षा की मात्रा कम नहीं होती। अणुशक्ति का उपयोग शान्तिपूर्ण कार्यों के लिए होने पर भी उसकी सांसारिक शक्ति में कमी नहीं आती। भूल या द्वेष की तनिक सी चिनगारी भयंकर परिणाम ला सकती है। समझ में नहीं आता कि शक्ति के इस विकास को वरदान कहा जाये या अभिशाप।

प्राचीन युग में मनुष्य के पास प्राकृतिक साधन विपुल मात्रा में थे, किंतु उसका उपभोग करने की शक्ति न थी। विज्ञान द्वारा वह शक्ति प्राप्त हुई। यातायात तथा परिवहन के साधनों द्वारा वस्तुओं का परिवहन तथा मनुष्यों का आवागमन शीघ्रता से होने लगा। दुर्भिक्ष समाप्त हो गये। किंतु इसी विकास के कारण शासकों की शक्ति इतनी बढ़ गई कि व्यक्ति के लिए उनका विरोध करना असम्भव हो गया। दूसरी ओर यातायात सम्बन्धी तथा अन्य खतरों से बचने के लिए सर्व साधारण पर नियन्त्रण बढ़ता चला जा रहा है।

इस प्रकार हम देखते हैं कि विज्ञान ने एक ओर मनुष्य की सुख सुविधाओं में वृद्धि की है, दूसरी ओर उसकी स्वतन्त्रता को समाप्त कर दिया। उसने शासक की शक्ति को लाखों करोड़ों गुणा बढ़ा दिया। किंतु

शासित सुरक्षित के स्थान पर उत्तोत्तर अपने को अरक्षित और असहाय अनुभव कर रहा है। विश्वव्यापी भय की मात्रा बढ़ती जा रही है। परस्पर सन्देह प्रतिस्पर्धा और असहिष्णुता के इस वातावरण का मुख्य कारण एकांकी या एकान्तिक दृष्टिकोण है। प्रत्येक व्यक्ति और राष्ट्र अपने स्वार्थों को केन्द्र में रखकर सोच रहा है। उद्धार का एक ही मार्ग है कि अनेकान्तिक दृष्टिकोण को अपनाया जाये। वर्तमान मानव अपने अधिकार की सोचता है और दूसरे के कर्तव्य की। इसके स्थान पर उसे दूसरे के अधिकार और अपने कर्तव्य पर भी ध्यान देना होगा। जब वह सुरक्षा या सुख सम्पत्ति की बात सोचता है तो किसी परिधि को लक्ष्य में रखता है। वह परिधि कहीं भौगोलिक होती हैं कहीं सामाजिक और कहीं जातीय। इन सब से ऊपर उठकर व्यापक दृष्टिकोण को अपनाने की आवश्यकता है।



त्यागी वर्ग और शक्ति

| १२

प्रत्येक व्यक्ति अपनी इच्छाएँ पूर्ण करने के लिये चेतन एवं अचेतन जगत् पर नियन्त्रण करना चाहता है और इसके लिये हिंसा, प्रलोभन, प्रदर्शन, उपदेश, विज्ञान, कला-कौशल आदि उपाय काम में लाता है। इस नियंत्रण का मूल्यांकन करने के दो आधार हैं। पहला आधार है लक्ष्य की पवित्रता। लक्ष्य जितना व्यापक और पवित्र होगा नियंत्रण उतना ही उत्तम कोटि का माना जायगा। वासनापूर्ति, आर्थिक-शोषण, अहङ्कार की तृप्ति तथा इसी प्रकार के अन्य स्वार्थों के लिये भी एक मानव ने दूसरे पर नियंत्रण किया है। इन लक्ष्यों को पवित्र नहीं कहा जा सकता। दूसरी ओर शिक्षाप्रचार, आत्म-बुद्धि आदि ऐसी बातों के लिये भी नियंत्रण होता आया है जो मनुष्य को ऊँचा उठाती हैं। प्रथम प्रकार के लक्ष्य को लेकर राजनीतिक तथा आर्थिक संगठन हुये और दूसरे प्रकार को लेकर धार्मिक संगठन। बहुतबार ऐसा भी हुआ कि धर्म की आड़ में अहङ्कार का पोषण किया जाने लगा और उसके लिये किया जाने वाला नियंत्रण हेय कोटि में आ गया।

मूल्यांकन का दूसरा आधार उपाय शुद्धि है। उपाय जितना हिंसा-त्मक या क्रूर होगा उतना ही नियंत्रण हीनकोटि का बनता जायगा। दूसरे शब्दों में यों कहा जा सकता है कि नियंत्रण जितना ऊपर से लादा जायगा उतना ही अधम होगा। इसके विपरीत जिस नियंत्रण को दूसरा व्यक्ति आत्मविकास के लिये प्रसन्न होकर स्वीकार करता है वह उतना ही उत्तमकोटि का होता है। इसकी चरमसीमा वहाँ है जब नियंत्रण व्यक्ति

का स्वभाव बन जाता है। उस समय वह मर्यादा पालन करने के स्थान पर मर्यादाभङ्ग में अधिक कष्ट का अनुभव करने लगता है; इसी अवस्था को शास्त्रीय परिभाषा में संयम कहा गया है।

साधु संस्था भी चिरकाल से नियंत्रण को महत्त्व देती आई है और इसके लिये उचित तथा अनुचित उपायों को अपनाती रही है। लक्ष्य के रूप में उसकी घोषणा मोक्ष या आत्मविकास रही है, किन्तु यह नहीं कहा जा सकता कि उसका संचालन भी इस घोषणा के अनुसार हुआ है। प्रस्तुत लेख में हमें साधु-संस्था के इन परिवर्तनों पर विचार करना है।

भगवान् महावीर ने जब गृह-त्याग किया तो उनका लक्ष्य आत्मशुद्धि था। कठोर साधना एवं तपस्या द्वारा आत्मा के समस्त विकारों को दूर किया और दुर्बलताओं पर विजय प्राप्त की। उस काल में अपनी तपस्या या कठोरचर्या का कोई प्रदर्शन नहीं किया।

आत्मशक्ति का पूर्ण विकास हो जाने पर दूसरों का पथ-प्रदर्शन करने के लिये संघ-रचना की। उसमें अनुशासन का आधार एकमात्र स्वेच्छा-पूर्वक स्वीकार किया गया नियंत्रण था। बहुत से राजा, सामन्त एवं सम्पन्न व्यक्ति उनके शिष्य थे किन्तु ऐसा एक भी उदाहरण नहीं मिलता जहाँ उनसे किसी प्रकार की सहायता ली गई हो। उनके जीवन तथा उपदेशों से प्रेरणा प्राप्त करके सम्पन्न तथा दरिद्र, अपराधी तथा सुशील, युवक तथा वृद्ध, सभी प्रकार के व्यक्ति आते थे और यथाशक्ति व्रत ग्रहण करने की इच्छा प्रकट करते थे। भगवान् का एक ही उत्तर होता था। “जहासुहं देवाणुप्पिया ! मा पडिबंघं करेह ।” हे देवानुप्रिय, तुम्हें जैसा सुख हो, देरी मत करो।’

इसके विपरीत जब हम वर्तमान साधु-संस्था को देखते हैं तो लक्ष्य तथा उपाय दोनों में विकार दृष्टिगोचर होते हैं। आवश्यकता इस बात की है कि उन सब विकारों को दूर करके पुनः उच्चलक्ष्य और अहिंसात्मक उपायों की प्राण-प्रतिष्ठा की जाय।

भारतीय जनता प्राचीन समय से यह मानती आ रही है कि साधुओं में दैवी शक्ति होती है। दूसरी ओर इस विश्वास को दृढ़ करने के लिये साधुवर्ग मिथ्याप्रदर्शन एवं अनेक प्रकार के कपट रचता आ रहा है। भगवान् पार्श्वनाथ और महावीर ने इन सब का विरोध किया था। उनका कथन था कि पूजा या आदर के लिये हमें एकमात्र चरित्रशुद्धि को महत्त्व देना चाहिये। अन्य बातों के आधार पर किसी का सत्कार करना मिथ्यात्व है। ऐसा होने पर भी वर्तमान साधु-संस्था भोली जनता को आकृष्ट करने के लिये अनेक प्रकार के प्रदर्शन कर रही हैं। यह बताने की कोशिश की जाती है कि अमुक साधु का किसी देवता के साथ साक्षात् सम्पर्क है। भक्तों में यह विश्वास जमाया जाता है कि अमुक साधु को मानने से धन-सम्पत्ति में वृद्धि होगी, उनके चरणों की धूल मस्तक पर रगड़ने से रोग दूर हो जायेंगे, उनकी उचित एवं अनुचित समस्त इच्छाओं को पूर्ण करने में किसी प्रकार का संकोच नहीं करना चाहिये।

जैन परम्परा में तपस्या का महत्त्व प्रारम्भ से ही रहा है। यह सत्य भी है। वास्तव में तपस्या बहुत बड़ी शक्ति है, किन्तु उसका प्रदर्शन तपस्या को दंभ बना देता है। साधु या श्रावक कोई भी हो यदि वह आत्म-कल्याण के लिये तपस्या करता है तो बहुत अच्छी बात है; किन्तु इसके लिये दूर-दूर तक प्रचार करना, आमंत्रण भेजना और भीड़ इकट्ठी करना उसके महत्त्व को घटाना है, ऐसा करने से आत्मशुद्धि के स्थान पर अहंकार की पुष्टि होने लगती है, जो तपस्वी और प्रदर्शन कार्य दोनों के लिये हेय है।

बहुत से साधु, श्रावकवर्ग या क्षेत्र विशेष के साथ पारिवारिक सम्बन्ध जोड़े रहते हैं। जब कोई सम्पन्न व्यक्ति, उसकी पत्नी या अन्य सम्बन्धी दर्शनार्थ आते हैं तो वे परिवार के व्यक्तियों का नाम तथा उनकी रिश्ते-दारियों का वर्णन करने लगते हैं। सम्पन्न व्यक्ति के ऊँचे खानदान की प्रशंसा करते हैं और उसके साथ अपनी पीढ़ियों का सम्बन्ध जोड़ते हैं।

कहने की आवश्यकता नहीं है कि किसी भी कुल, परिवार या क्षेत्र के प्रति इस प्रकार का ममत्व परिग्रह है। अपरिग्रही के जीवन में उसके लिये कोई स्थान नहीं है। साधु के लिये इस बात का महत्त्व नहीं है कि उसके अनुयायी कितने सम्पन्न हैं ? या गृहस्थ अवस्था में उसका सम्बन्ध किसी सम्पन्न कुल से रहा है ? उसके लिये इसी बात का महत्त्व है कि अनुयायियों के जीवन में सच्चा त्याग कहाँ तक उतरता है ? उनके जीवन में अहंकार के स्थान पर नम्रता, भोग के स्थान पर वैराग्य तथा तृष्णा के स्थान पर सन्तोष कहाँ तक आया है ? भगवान् महावीर का गौरव जितना अजुनमाली और पूणिषा श्रावक से था उतना सम्राट् श्रेणिक से नहीं।

कुछ साधु राजकीय वर्ग के साथ सच्चा भूठा सम्बन्ध जोड़कर सर्व-साधारण पर प्रभाव स्थापित करना चाहते हैं। बात-बात पर अपने किसी मंत्री या उच्च अधिकारी से मिलने का उल्लेख करते हैं। लोगों को यह आश्वासन देते हैं कि वे उस अधिकारी से कह देंगे और उसका प्रयोजन सिद्ध हो जायेगा, किन्तु वास्तव में देखा जाये तो यह त्यागी के लिये गौरव की बात नहीं है। जब वे मिलते हैं तो भारतीय शिष्टाचार के नाते अधिकारी हाथ जोड़ते हैं और वह अपनी मर्यादा के अनुसार आशीर्वाद देते हैं, किन्तु देखना यह है कि कितना प्रभाव किस पर पड़ रहा है ? त्यागी पर अधिकारी का या अधिकारी पर त्यागी का ! अधिकारी त्यागी के सामने त्याग या वैराग्य भावना से प्रेरित होकर हाथ नहीं जोड़ता, उसका ध्यान उस जड़ शक्ति पर होता है जो त्यागी के वचनों का आदर करती है और समय आने पर राजनैतिक संघर्ष में उसकी सहायता कर सकती है। दूसरी ओर त्यागी अधिकारी के साथ वार्तालाप करते समय अपना चित्र खिचवाता है और उसका प्रचार करता है। स्थान-स्थान पर उसका निर्देश करता है उससे बार-बार मिलने के लिये नये-नये तरीके तथा निमित्त खोजता रहता है। वह जानता है कि

अनुयायियों पर उसका प्रभाव अपने त्याग के कारण नहीं है। इसका कारण है राजकीय वर्ग के साथ सम्बन्ध। अतः वह उसे उत्तरोत्तर बढ़ाता चला जाता है और इसके लिये सभी हथकंडे काम में लाता है। लौकिक दृष्टि से कुछ भी हो किन्तु वास्तव में देखा जाये तो यह अपरिग्रह पर परिग्रह की, अहिंसा पर हिंसा की, विनय पर अहंकार की और त्याग पर भोग की विजय है। दूसरे शब्दों में इसे ओघे पर तलवार की विजय कहा जा सकता है।

भारत के प्राचीन युग में व्यक्ति अपने त्याग, तपस्या विद्या आदि गुणों के आधार पर ऊँचे उठते थे और स्वयं प्रकाश बनकर दूसरों को प्रकाश देने लगते थे। उन्हें विद्यालय, शोधपीठ या अन्य संस्थायें स्थापित करने की आवश्यकताएँ नहीं होती थीं। वे स्वयं एक संस्था बन जाते थे और उनके जीवन तथा उपदेशों से लाखों व्यक्ति प्रेरणा प्राप्त करते थे। वैदिकपरम्परा में ऋषि, मुनि आश्रमों में रहते। भगवान महावीर ने देखा कि वे भी एक परिग्रह बन रहे हैं अतः जैनश्रमण के लिये उसका निषेध कर दिया। इतना ही नहीं, यह विधान किया कि उसे अधिक दिनों तक एक स्थान पर नहीं ठहरना चाहिए, किन्तु वर्तमान साधु-संस्था उस परम्परा को भूलती जा रही है। स्वयं संस्था न बनकर जड़ संस्थायें खड़ी कर रही हैं। स्वयं प्रकाश न बनकर बुझे हुए दीप के उस युग की दुहाई देकर प्रतिष्ठा प्राप्त करना चाहती है, जब वह प्रज्वलित था। वास्तव में देखा जाय तो अतीत कितना ही उज्ज्वल हो जो दीप बुझ चुका है वह प्रकाश नहीं दे सकता।

प्रकाश देने के लिये स्वयं प्रकाश बनना होगा। दुर्बलताओं और प्रलोभनों को तपस्या की आग में जलाना होगा। अहंकार को बत्ती बना कर मिटाना होगा, उसे जितना जलाया जाएगा उतना ही प्रकाश अधिक होगा। उधारी शक्ति कहीं से आये, वह राजकीय वर्ग की हो, सम्पन्न वर्ग की हो या कथाकथित दैवी-चमत्कारों की, वह साधु की शक्ति नहीं बन

सकती । साधु की शक्ति तो आत्मशक्ति है । कषायों पर विजय प्राप्त करके वह ज्यों-ज्यों अनन्तचतुष्टय का विकास करता है, शक्तिशाली बनता जाता है । जैनधर्म का लक्ष्य इसी शक्ति को प्राप्त करना है ।



....भगवान् पार्श्वनाथ और महावीर ने मिथ्या आडंबर और प्रदर्शन का विरोध किया । उनका कहना था कि पूजा या आदर के लिए एक मात्र चरित्र शुद्धि को महत्त्व देना चाहिए । किन्तु लगता है वर्तमान साधु-संस्था उन उपदेशों को पोथियों में बन्द कर चुकी है । वह भोली जनता को आकृष्ट करने के लिए अनेक प्रकार के मिथ्या प्रदर्शन करने में व्यस्त है ।....

संगठन और साधुसंस्था

| १३

वर्तमान युग संगठनों का युग है। धर्म, राजनीति, शिक्षा, वाणिज्य कला आदि प्रत्येक क्षेत्र में संगठन की पुकार है। महाभारत में आया है, कि “संघे शक्तिः कलौ युगे।” प्राचीन युग में कभी ज्ञान में शक्ति रही है, कभी तपस्या में और कभी त्याग में। किन्तु वर्तमान युग में शक्ति का केन्द्र संघ अर्थात् संगठन है। लोकतन्त्रीय शासनपद्धति में यह बात उत्तरोत्तर उग्ररूप ले रही है। राष्ट्र का सर्वोच्च-पद प्राप्त करने के लिए विद्या, त्याग, चरित्र, प्रतिभा आदि अन्य किसी गुण की आवश्यकता नहीं है। जिसमें शिक्षित या अशिक्षित बहुसंख्यक व्यक्तियों को अपना समर्थक बनाने की योग्यता है, उसके लिए कोई पद अप्राप्य नहीं है। बहुमत द्वारा वह सर्वोच्च कलाकार, सर्वश्रेष्ठविद्वान्, मूर्धन्यत्यागी तथा वीर सैनिक के रूप में यश प्राप्त कर सकता है। सभी प्रकार की संस्थाओं का उच्चपदाधिकारी बन सकता है। ऐसी स्थिति में त्यागी वर्ग का उस ओर ध्यान जाना स्वाभाविक ही है।

हमारे सामने कुछ प्रश्न आते हैं—क्या संगठन अपने आप में लक्ष्य है? क्या उससे प्राप्त होने वाली शक्ति प्रत्येक वर्ग के लिए उपादेय है? वह हमें उत्थान की ओर ले जाती है या पतन की ओर? प्रस्तुत लेख में इन्हीं प्रश्नों की चर्चा की जाएगी।

प्रकृति में संगठन के अनेक रूप मिलते हैं। पहला रूप भेड़ों में दिखाई देता है। वहाँ सदस्यों की विचारशक्ति पूर्णतया कुंठित होती है। प्रत्येक भेड़ की आँख आने से आगे भेड़ पर लगी रहती है। जब अगली

भेड़ दौड़ती हैं तो पिछली भी दौड़ने लगती हैं, अगली बोलती हैं तो वह भी बोलने लगती हैं, अगली घास चरती हैं तो वह भी चरने लगती हैं। यदि अगली गड्ढे में गिर पड़ती हैं तो पीछे चलने वाली भेड़ भी एक के पीछे दूसरी गड्ढे में गिरती चली जाती हैं। जब उन्हें रेलगाड़ी या जहाज में लादना होता है तो अगली भेड़ को पकड़ कर जबरदस्ती अन्दर कर दिया जाता है फिर दूसरी भेड़ों के लिए परिश्रम करने की आवश्यकता नहीं रहती। वे अपने आप वहाँ पहुँच जाती हैं। प्रायः सैनिक-संगठन इस प्रकार के होते हैं। वहाँ इस बात पर बल दिया जाता है कि प्रत्येक सिपाही नायक की आज्ञा को बिना विचारे मानता चला जाय। उसे यह सोचने का अधिकार नहीं है वह क्यों लड़ रहा है, किसके साथ या किस लिए लड़ रहा है। गोली चलाने या बम फेंकने की आज्ञा मिलने पर यह प्रश्न करने का अधिकार नहीं है कि ऐसा क्यों किया जाय, सच्चा सैनिक वही है जो स्वतन्त्र विचारशक्ति को दबा कर यंत्र के समान आज्ञा का पालन करता चलता रहे।

इसमें संदेह नहीं कि संकटकाल में जब शत्रु को दबाने के लिए तुरन्त कारवाई की आवश्यकता होती है, तब इस प्रकार का संगठन आवश्यक है। किन्तु शान्तिकाल या साधारण परिस्थिति में वह अनुपादेय ही नहीं हानिकारक भी है। वह जीवन के स्वाभाविक विकास को रोक देता है। प्रतिभा तथा साहस को कुंठित कर देता है। जब आग लगती है तो पानी लेकर दौड़ना सभी का कर्तव्य हो जाता है। उस समय अन्य सभी कार्य गौण हो जाते हैं। किन्तु बिना आग के भी बालटी लेकर दौड़ते रहना बुद्धिमत्ता नहीं है।

साधुसंस्था यदि इस संगठन का अनुकरण करती है तो वह अपने लक्ष्य से भ्रष्ट हो जायेगी। त्यागी के जीवन का लक्ष्य होता है आत्मगुणों का विकास। यदि संगठन उसमें सहायक है तो उपादेय है अन्यथा हेय। शास्त्रों में आया है कि साधु अपने आध्यात्मिक गुणों के विकास के लिए

ही दूसरे साधुओं के साथ रहें। इसके लिए उच्चतर चारित्र वाले साथी की खोज करे। यदि वैसा न मिले तो समान चारित्र वाले के साथ रहे किन्तु हीन चारित्र वाले के साथ कभी न रहे। उसकी अपेक्षा तो यही अच्छा है कि अकेला विचरण करे।

सैनिक संगठन का लक्ष्य सामूहिक रक्षा होता है जिसे वैयक्तिक रक्षा के लिए आवश्यक माना जाता है। उस समय प्रत्येक व्यक्ति की यही धारणा होती है कि सबका सामूहिक रूप राष्ट्र न बचा तो कोई न बचेगा। किन्तु धर्मसंस्था का लक्ष्य वैयक्तिक-उत्थान होता है। वहाँ संगठन या सामाजिक उत्थान साधन के रूप में अपनाया जाता है साध्य के रूप में नहीं। जहाँ साधन और साध्य में परस्पर संघर्ष चल पड़ता है और साधन साध्य के विकास में सहायक होने के स्थान पर बाधक बन जाता है, वहाँ समझदारी इसी में है कि कथित साधन को छोड़ कर साध्य की रक्षा की जाय।

संगठन का दूसरा रूप चींटियों में मिलता है। वहाँ निष्ठा लक्ष्य के प्रति रहती है व्यक्ति के प्रति नहीं। सभी सदस्य उस लक्ष्य की पूर्ति के लिए परस्पर सहयोग द्वारा काम लेते हैं। प्राचीन समय में कृषकों और ग्रामवासियों के संगठन प्रायः इस प्रकार के रहे हैं। वे मिलकर तालाब खोदते थे, संकट आने पर मिलकर सामना करते थे और सामूहिक उन्नति के लिए प्रयत्नशील रहते थे। प्रत्येक व्यक्ति के संकट को गाँव का संकट और अपमान को गाँव का अपमान माना जाता था। इतना ही नहीं प्रत्येक कन्या गाँव की बेटो, प्रत्येक बहू गाँव की बहू और प्रत्येक माता गाँव की माता मानी जाती थी। सामाजिक दृष्टि से संगठन का यह रूप वास्तव में आदर्श था। किन्तु साधुसंस्था का निर्माण लोकोत्तर लक्ष्य को लेकर होता है, वहाँ सामाजिक संबंध या सहयोग का उतना महत्व नहीं है जितना चरित्र शुद्धि या आध्यात्मिक विकास का। साधक लोकमर्यादायें तोड़कर साधु बनता है। समाज पर उसका बोझ नहीं

होता । उसके चरित्र तथा उपदेशों से समाज को आध्यात्मिक प्रकाश मिलता है जिससे वह अपने उच्च लक्ष्य को ध्यान में रखता है । किन्तु उसका मुख्य कार्य आत्मविकास होता है । जो साधु सामाजिक संगठन के लिये आत्म विकास को भूल जाता है वह अपने ध्येय से गिर जाता है ।

वैदिक परम्परा में ब्राह्मणों का कार्य सामाजिक संगठन रहा है, किन्तु वहाँ वे गृहस्थ और स्वयं समाज के अंग होते हैं । वहाँ समाज जीवन का सर्वोच्च लक्ष्य है, किन्तु श्रमण परम्परा में समाज बीच की श्रेणी है । वह उच्चतम लक्ष्य तथा आदर्श नहीं है । साधन है, साध्य नहीं । उच्चतमलक्ष्य आत्मविश्वास है, जिसके लिए सामाजिक उत्तरदायित्व को छोड़ना आवश्यक है । सामाजिक या लौकिक उत्तरदायित्व का ध्यान रखने वाला साधुत्व के आदर्श पर नहीं चल सकता ।

संगठन का तीसरा रूप मधुमक्खियों में मिलता है । वे मिल जुलकर मधु का संचय करती हैं साथ ही आवश्यकता पड़ने पर शत्रु पर आक्रमण कर देती हैं । व्यापारियों का संगठन प्रायः इस प्रकार का होता है । वहाँ उद्देश्य संचय और संचित की रक्षा होता है । साधु न संचय करता है और न उसे संचित के लुट जाने का भय होता है ।

चौथा रूप हरिणों में मिलता है । सभी हरिण स्वेच्छानुसार चरते रहते हैं और नेता गर्दन ऊँची उठाकर चारों ओर देखता रहता है । उसका कर्तव्य होता है शिकारी, हिंसक पशु या अन्य भय का ध्यान रखना और अपने साथियों को उसकी सूचना देना जिससे वे अपनी रक्षा कर सकें । वह न किसी पर नियंत्रण करता है और न आदेश देता है । किसी के स्वेच्छापूर्वक विचरण में बाधा नहीं डालता, केवल भय का ज्ञान कराता रहता है । साधु संस्था का संगठन भी इसी प्रकार का होता है । प्रत्येक सदस्य अपने विकास के लिए स्वेच्छा पूर्वक सम्मिलित होता है । उसकी बौद्धिक, शारीरिक या मानसिक किसी शक्ति को कुंठित नहीं किया

जाता, उस पर कोई सामाजिक बंधन भी नहीं होता। आचार्य या नेता का काम इतना ही होता है कि वह आध्यात्मिक विकास के लिए पथ प्रदर्शन करता रहे और भय स्थानों की सूचना देता रहे। चरित्र पालन के लिए आदेश या दंडभय की मात्रा जितनी अधिक होगी चरित्र उतना ही निम्न कोटि का होगा।

जैन शास्त्रों में आत्महत्या को महापाप माना गया है। दूसरी ओर व्युत्सर्ग अर्थात् स्वेच्छापूर्वक शरीर परित्याग को सबसे बड़ा तप बताया गया है। दोनों में इतना ही अन्तर है कि आत्महत्या में विवशता या अतृप्ति की मुख्यता रहती है। मनुष्य रोग, दारिद्र्य या अन्य किसी विपत्ति से घिरने पर आत्महत्या कर लेता है। यह जीवन संघर्ष से पलायन है। दूसरी ओर व्युत्सर्ग करने वाला धन संपत्ति परिवार तथा शरीर के मोह को स्वेच्छापूर्वक छोड़ता है। वह उच्चकोटि की वीरता है। यदि साधु चरित्र का पालन विवशता, दंडभय या आदेश के वशीभूत होकर करता है तो वह एक प्रकार की आत्महत्या है। जैन परिभाषा में इसे अज्ञान तप कहा जायेगा। अतः यह मानना होगा कि साधुसंस्था में संगठन का लक्ष्य दमन या दंडविधान नहीं हो सकता। यह तो एक प्रकार की हिंसा है। यहाँ संगठन का लक्ष्य मार्गदर्शन है। आचार्य या नेता का कार्य है कि प्रत्येक साधु का पथप्रदर्शन करे। उलम्भन आने पर उसे सुलभाये, समस्याएँ खड़ी होने पर समाधान करे, हतोत्साह में उत्साह जगृत करे, भय या पतन के कारणों से सावधान करता रहे, ज्ञान दर्शन और चारित्र के विकास के लिए कल्पानुसार समुचित व्यवस्था करें। साधु संस्था एक प्रयोगशाला है। जहाँ साधु आध्यात्मिक प्रयोग करने के लिए सारा जीवन लगा देता है। आचार्य उस प्रयोगशाला का अध्यक्ष होता है। वह प्रयोग करने वालो पर नियंत्रण नहीं करता, किंतु उनकी सुख सुविधाओं का ध्यान रखता है और उनका पथ प्रदर्शन करता है।



सिद्धांत और आचार

| १४

आचार का अर्थ है वे मान्यताएँ जो जीवन में उतारने के लिये स्वीकृत की जाती हैं। इसका मुख्य सम्बन्ध उन व्यक्तियों से है जिन्हें अपने विकास, उत्थान या शुद्धि के लिये विशेष प्रकार की जीवन पद्धति अपनानी होती है। इसके विपरीत सिद्धान्त का अर्थ है विश्व के रहस्य को प्रकट करने के लिये उपस्थित किया गया विचार। इसका सम्बन्ध जितना बुद्धि के साथ है उतना हृदय या जीवन के साथ नहीं होता। बहुत से सिद्धान्त ऐसे भी हैं जिनका जीवन के साथ सम्बन्ध है, उन्हें आचार सिद्धान्त कहा जाता है। किन्तु वे भी पालन करने वाले की अपेक्षा से आचार है और मर्यादा स्थिर करने वाले की अपेक्षा से सिद्धान्त। चिरंतन काल से ऐसे अनेक आचार सिद्धान्तों का प्रतिपादन होता आ रहा है जिन्हें प्रतिपादयिता अपने जीवन के लिये आवश्यक नहीं मानता। गुरु शिष्य के लिये आचार मर्यादा स्थिर करता है। धर्माचार्य अनुयायियों के लिये, राजा प्रजा के लिये, अधिकारीवर्ग साधारण जनता के लिये। जैनधर्म का यह तकाजा है कि आचार मर्यादा बनाने वाले स्वयं भी उसका पालन करें।

प्रत्येक कार्य के लिए कर्तव्याकर्तव्य के नियम बने हैं और साधारण मानव का एक मात्र कर्तव्य उनका अक्षरशः पालन रह जाता है। थोड़ा-सा इधर-उधर करने में पाप का भय बना रहता है। ऐसी स्थिति में धर्माचार्य नैतिकता के अन्तिम निर्णायक बन जाते हैं और उनके फैसले में किसी प्रकार की ननुनच करना पाप मान लिया जाता है। व्यक्ति के मन में कैसा ही नैतिक प्रश्न उपस्थित हो धर्माचार्यों के पास गढ़ा-गढ़ाया

उत्तर तैयार रहता है। अनुयायी को किसी भी प्रश्न के लिये निराश नहीं होना पड़ता और न ही उसे उनके सत्यासत्य अथवा योग्यायोग्य होने के विषय में सोचने का अधिकार होता है। इस प्रकार के आचार नैतिकता की कोटि में नहीं आते।

सदाचार और अनुशासन—शासन जितना कठोर होगा स्वतन्त्र विकास उतना ही मन्द पड़ जायगा। इसके दो उदाहरण हैं—एक ओर रूस का साम्यवाद है और दूसरी ओर धर्म-संस्थाएँ। दोनों में बाह्य अनुशासन को स्थायी बनाने का प्रयत्न किया गया है। साम्यवाद में स्वातन्त्र्य पर नियन्त्रण रखने के उद्देश्य के वैयक्तिक उत्तरदायित्व को भी समाप्त कर दिया गया। वहाँ प्रत्येक व्यक्ति के भरण-पोषण का उत्तरदायित्व राज्य पर है। व्यक्ति के सारे कार्य राज्य द्वारा किये जाते हैं। उनमें व्यक्ति की स्वतन्त्र इच्छा काम नहीं करती।

बहुत सी धार्मिक परम्पराओं में भी आचार सम्बन्धी नियम इतने कठोर होते हैं कि व्यक्ति को अपने आप सोच कर कोई कार्य करने का अवसर नहीं रहता।

आचार शिक्षण का प्रारम्भ—बाल्यकाल में जो आचार-सम्बन्धी शिक्षा दी जाती है वह केवल बाह्य-अनुशासन के रूप में होती है। गुरुजन आदेश देते हैं और बालक उनका पालन करता है। वह उन शिक्षाओं को हितकारी तथ्य के रूप में नहीं, किन्तु आज्ञा के रूप में ग्रहण करता है। फिर भी उनका बालक की इच्छा-शक्ति पर प्रभाव पड़ता है और वह क्रमशः परिष्कृत होती जाती है।

इस प्रकार के अनुशासन की प्रतिक्रिया दो रूपों में होती है। कोई बालक उन्हें स्वेच्छापूर्वक स्वीकार कर लेता है। वहाँ पालन कराने के लिये बल-प्रयोग की आवश्यकता नहीं होती। कहीं इसके प्रतिकूल प्रतिक्रिया होती है और आदेशों का पालन कराने के लिये दण्ड प्रयोग आवश्यक हो जाता है। दोनों स्थितियों में यह बात साधारण है कि शिक्षाओं

का पालन करने में बालक की अपनी बुद्धि का सहयोग नहीं होता। ऐसी स्थिति में यह प्रश्न होता है कि उसे सदाचार की कोटि में रखा जाय या नहीं। इसका एक ही उत्तर है कि अपने आप में सदाचार न होने पर भी भावी सदाचार का कारण होने से उसे उपादेय समझा जाता है। जो शिक्षक उच्छृङ्खलता के भय के कारण बालक को स्वतन्त्रता नहीं देता और शिक्षा की अवधि को लम्बी बना देता है उसका परिणाम विपरीत होता है। उससे बालक का व्यक्तित्व विकसित नहीं होने पाता। उसकी बुद्धि तथा क्रियाशक्ति कुंठित हो जाती है।

सदाचार का उत्तम रूप—प्रत्येक मानव अपनी अन्तरात्मा की ध्वनि मूलता है। सदाचार के प्रश्न पर उस ध्वनि की उपेक्षा नहीं की जा सकती। जैसे-जैसे अन्तरात्मा का विकास होता है मानसिक सामंजस्य की वृत्ति बढ़ती जाती है और छोटी-छोटी समस्त इच्छाओं एवं भावनाओं को एक सूत्र में अनुस्यूत करने का प्रयत्न प्रारम्भ हो जाता है। क्रमशः वह सूत्र समस्त वृत्तियों का संचालन करने लगता है और व्यक्तित्व को व्याप्त कर लेता है।

जब तक हमारे आचार पर किसी बाह्यशक्ति का नियन्त्रण है और हमें उस शक्ति के सामने इच्छा न होने पर भी झुकना पड़ता है तब तक उपर्युक्त स्थिति नहीं प्राप्त हो सकती। सम्भव है समय बीतने पर हमें वह नियन्त्रण उचित एवं युक्ति संगत प्रतीत होने लगे। किन्तु जब तक छोटे बड़े समस्त कर्तव्यों में एक सूत्रता नहीं आती और उनका संचालन किसी एक शक्ति द्वारा नहीं होता तब तक नैतिकता का उच्चआदर्श नहीं प्राप्त किया जा सकता, चरित्र का उच्चतम विकास नहीं होने पाता। इसका अर्थ है मानव अपने आदर्श के अनुसार कर्तव्याकर्तव्य का स्वयं निश्चय करे और जीवन का संचालन करने के लिये आचार-मर्यादायें स्वयं स्थिर करे। हृदय तथा अन्तरात्मा का साथ हुए बिना केवल बाह्य क्रियाकाण्ड से सदाचार हमारा स्वभाव नहीं बनता और न ही चरित्र का

विकास हो सकता है। शारीरिकक्रिया को चाहे जितनी बार दुहराया जाय वह चरित्र नहीं बनती।

उच्चतम आदर्शों के लिये भी बाह्य निष्ठा का उतना मूल्य नहीं है जितना हृदय से निकली हुई प्रशंसा और आन्तरिक निष्ठा का। वैयक्तिक चरित्र का मूल्यांकन इन्हीं आधारों पर होता है।

सदाचार और मनोविज्ञान—मनोविज्ञान की दृष्टि से चरित्र का अर्थ है, मन की तीनों वृत्तियों का सामंजस्य। वे हैं—ज्ञान, अनुभूति और इच्छा। अरस्तू ने पुण्य की परिभाषा करते हुए बताया है कि वह हमारे उद्देश्य (purpose) या पसन्द (choice) पर निर्भर है। उद्देश्य का अर्थ है विचार पूर्वक की गई इच्छा।

विनय, आचार या धर्म का अर्थ है व्यक्ति या पुस्तक द्वारा प्रतिपादित सिद्धान्त के अनुसार शिक्षा एवं अभ्यास द्वारा वृत्तियों का परिष्कार।

तृष्णा अथवा कामना, बुद्धि को वहीं तक स्वीकार करती है जहाँ तक वह इनका साथ देती है और अपना निर्णय उनके विपरीत नहीं देती। शास्त्रों में वर्णित हित वचन निन्दा तथा शुभाशुभ परिणामों से भावना का परिष्कार और बुद्धि के अनुसार उसका संचालन किया जा सकता है।

अरस्तू की मान्यतानुसार धर्म या सदाचार का अर्थ है अकुशल को छोड़कर कुशल की स्वीकृति। सदाचार का अर्थ है बुद्धि और इच्छा दोनों का एकरूप होना। धर्म या नैतिक अनुशासन का अर्थ इच्छा या मनो-वृत्तियों का परिष्कार है, दमन नहीं।

इसी आधार पर अरस्तू ने मानसिक वृत्तियों को दो भागों में विभक्त किया है—बुद्धिसंगत तथा उसके विपरीत। हम प्रत्येक व्यक्ति के, वह संयत हो या असंयत, तर्क संगत भाग का अभिनन्दन करते हैं। क्योंकि

यह उन्हें सत्य की ओर प्रवृत्त करता है। किन्तु उनमें इस बुद्धिसंगत तत्व के साथ दूसरा तत्व भी विद्यमान है जो बुद्धि के विरुद्ध संघर्ष करता रहता है। पक्षाघात से आक्रांत अङ्ग की हलचल सदा विपरीत दिशा की ओर होती है। हम उसे दाईं ओर ले जाना चाहते हैं तो वह बाईं ओर बढ़ता है। इसी प्रकार आत्मा की हलचल भी बुद्धि के विपरीत होती है। असंयत व्यक्ति की वृत्तियाँ बुद्धि के प्रतिकूल चलती हैं।

ज्ञान और आचार—सुकरात का कथन है कि 'ज्ञान ही धर्म या नैतिकता है।' किन्तु उनका कथन सब जगह ठीक नहीं उतरता। हम यह जानते हैं कि अमुक कार्य बुरा है, फिर भी उसे करते हैं। संसार में चोरी, डकैती, व्यभिचार आदि अनेक ऐसे कार्य हो रहे हैं जिन्हें मानव बुरा समझता है, फिर भी कर रहा है। हमारे अन्दर बुद्धि और इच्छा में परस्पर द्वन्द्व चलता रहता है और इने गिने महापुरुषों को छोड़कर सर्वत्र इच्छा की विजय होती है। दूरवर्ती भावी सुख के लिये उपस्थित सुख को त्यागने का साहस नहीं होता। हृदय के शक्तिशाली वेग के सामने तर्कशक्ति कुंठित हो जाती है। वास्तव में देखा जाय तो हमारे व्यक्तित्व का मापदण्ड इच्छाशक्ति है। समस्त प्रवृत्तियाँ और निर्णय उसी पर अवलम्बित हैं। बुद्धि तभी कार्य करती है जब हम संस्कारों के पुंज-रूप अपने व्यक्तित्व से ऊपर उठ जाते हैं। गीता के शब्दों में—

श्रद्धामयोऽयं पुरुषः यो यच्छ्रद्धः स एव सः

अतः सम्यक्-प्रवृत्ति के लिये केवल बौद्धिक-शिक्षा पर्याप्त नहीं है। आत्म शुद्धि के लिये अन्य सहायक तत्व भी आवश्यक हैं, जिससे दुर्दान्त इच्छा शक्ति का विवेक-शक्ति के साथ मेल हो सके। बुद्धि जिसे ठीक कहे। इच्छा भी उसे स्वीकार करले। साथ ही जब इच्छा विवेक के विरुद्ध जाना चाहे तो उस पर नियन्त्रण हो सके।

आचार और ईश्वरीय आज्ञा—आचार का आधार क्या है, इस विषय में अनेक प्रकार की मान्यताएँ हैं। किसी ने यह कहा कि आचार

ईश्वर की आज्ञा है। मनुष्य को उसमें ऊहापोह करने का अधिकार नहीं है। उसका एक मात्र कर्त्तव्य उन आज्ञाओं का अक्षरशः पालन है। इसके साथ एक ऐसा वर्ग खड़ा हो गया जिसने उन आज्ञाओं की व्याख्या पर भी एकाधिपत्य जमा लिया। उदाहरण के रूप में ब्राह्मण, साधु, तथा पादरियों को उपस्थित किया जा सकता है।

आचार और परम्परा—दूसरी मान्यता यह है कि आचार का अर्थ है प्राचीन परम्परा या रीति-रिवाज। सामाजिक संगठन पर बल देने वाली परम्पराओं ने प्रायः इस मान्यता को अपनाया है। इसमें व्यक्ति-स्वातन्त्र्य को कुंठित कर दिया गया है। इस प्रकार की जीवन पद्धति में जहाँ एक ओर स्थिरता रहती है दूसरी ओर विकास एवं प्रगति रुक जाती है। जीवन का अर्थ है विकास या अमृतत्व के लिये संघर्ष, ओर वह संघर्ष जितना उग्र होगा उतनी ही मृत्यु की सम्भावना भी बढ़ती जायगी। मृत्यु से डरने वाला अमृतत्व की उपासना नहीं कर सकता। अतः कहा जा सकता है कि जो समाज अपने अस्तित्व की रक्षा के लिये परम्पराओं के बन्धन में जकड़ा रहता है उसमें उसी अनुपात में जीवन की मात्रा न्यून होती जाती है। उसमें नवीन रक्त नहीं आने पाता।

धर्म संस्था के हेतु तत्त्व

| १५

धर्म ने व्यक्ति तथा समाज को ऊँचा उठाने के लिए महान कार्य किया है, इस तथ्य में किसी का मतभेद नहीं है। किन्तु उसने मनुष्य के विकास में बाधाएँ भी खड़ी की हैं। धर्म का नाम लेकर मनुष्य ने खून की नदियाँ बहाई, निर्बलों के अधिकार छीने विचार-शक्ति को कुण्ठित किया, कष्टों को कर्मों का फल बताकर पुरुषार्थ को पंगु बनाया, वैज्ञानिक विकास में रोड़े अटकाये। धर्माचार्य इन आरोपों का उत्तर दो प्रकार से देते हैं। प्रथम उत्तर में वे अपनी परम्परा को बचाकर आरोपों को अन्य धार्मिक परम्पराओं पर थोपने का प्रयत्न करते हैं। दूसरे उत्तर में यह कहते हैं कि मनुष्य धर्म की आड़ लेकर अपनी लालसाओं और अस्मिताओं का पोषण करने लगता है। ऐसी दशा में उपर्युक्त आक्षेपों के लिए धर्म उत्तरदायी नहीं है किन्तु उसका वह विकृत रूप उत्तरदायी है जिसमें धर्म का नाम लेकर दुर्वृत्तियों का पोषण किया जाता है। यह कहना अनुचित होगा कि उपर्युक्त उत्तरों में सत्य की मात्रा नहीं है। किन्तु उन्हें पूर्णरूप से सत्य नहीं माना जा सकता।

बाइबल के अनुसार परमेश्वर ने बिना किसी मूल तत्त्व का सहारा लिए छह दिनों में सारे विश्व को रचा। वहाँ यह भी माना जाता है कि पृथ्वी चपटी है और सूर्य उसके चारों ओर घूमता है। सोलहवीं शताब्दी में जीओर्डानो ब्रुनो नाम के एक विद्वान ने इन धारणाओं को विज्ञान के विरुद्ध समझकर कहा—“धर्मग्रंथों का प्रतिपाद्य आचार है विज्ञान नहीं, ग्रहविज्ञान अथवा भौतिक विषयों में उन्हें प्रमाण नहीं माना जा सकता।”

इस वक्तव्य का परिणाम यह निकला कि विश्व को प्रेम का सन्देश देनेवाले ईसाइयों ने ब्रूनों को जीवित जला दिया ।

सौभाग्य से वर्तमान शताब्दी में धर्मनायकों के हाथ में वह सत्ता नहीं है जिससे वे किसी को जीवित जला सकें । फिर भी धर्मग्रन्थों को अक्षरशः सत्य न मानने और उसमें किसी प्रकार के परिवर्तन या सुझाव देने वाले को दंडित करने की मनोवृत्ति अब भी विद्यमान है । कोई परंपरा उससे अछूती नहीं है । दूसरे के दृष्टिकोण को आदर की दृष्टि से देखना जैन दर्शन का सार है । वहाँ एकान्तवादी को मिथ्या माना जाता है । किन्तु सिद्धसेन दिवाकर को केवल इस कारण संघ से बाहर कर दिया गया कि उन्होंने जैन आगमों का संस्कृत में रूपान्तर करना चाहा था । कुछ दिन पहले एक प्रसिद्ध विद्वान पर भी वही प्रकोप हुआ था । उन्होंने इतना ही कहा था कि मन्दिरों का पैसा विद्या-प्रचार में लगा देना चाहिए ।

इन सब अड़चनों के होने पर भी मानवमस्तिष्क और विज्ञान अपनी तीव्र गति से आगे बढ़ते जा रहे हैं । धर्म ने विज्ञान का विरोध किया तो विज्ञान धर्म को कुचलकर आगे बढ़ने लगा । विश्व को इसका भयंकर परिणाम भुगतना पड़ रहा है । विज्ञान का कार्य सत्य एवं छिपे हुए तत्त्वों का अन्वेषण है और धर्म का कार्य उन सबको मंगलमय बनाना । किन्तु धर्म ने विज्ञान को झूठा बताया तो विज्ञान ने धर्म की उपेक्षा कर दी । परिणामस्वरूप विज्ञान सदाचार को कोई महत्त्व नहीं देना चाहता और अपना उपयोग मानव-सेवा के स्थान पर मानव-संहार के लिए कर रहा है । वह देवता के स्थान पर राक्षस बन रहा है । यदि धर्म साथ रहता तो उसे राक्षस न बनने देता । दूसरी ओर धर्म के पाँवों से धरती खिसक रही है । वह निराधार सा बनता जा रहा है । वह उत्तरदायित्वहीन इने-गिने लोगों की सनक मात्र रह गया है । राष्ट्र, समाज या वाणिज्य व्यवसाय में उत्तरदायित्वपूर्ण स्थान रखने वाले व्यक्ति कभी-कभी धर्म की

बात करते हैं। जब उन्हें भोली-भाजी जनता को उकसाना होता है या कोई अन्य स्वार्थ सिद्ध करना होता है तो धर्म का आश्रय लेने लगते हैं। उनके लिए धर्म भौतिक स्वार्थों का साधन मात्र रह गया है। अपने आप में जीवन का प्रेरक तत्व नहीं रहा। इस मनोवृत्ति को विश्व के लिए मंगलमय नहीं कहा जा सकता। विश्व को सदाचार की अव भी आवश्यकता है। हिंसक तत्त्व जितने प्रबल होते जा रहे हैं अहिंसा की आवश्यकता उतनी ही बढ़ती जा रही है। सदाचार के लिए धर्म का स्थान बना रहना जरूरी है। इस स्थान को बनाए रखने के लिए धर्म को ऐसे तत्व छोड़ने होंगे जो मानव विकास में बाधक है। उसे विज्ञान और प्रगति के साथ मित्रता करनी होगी। आगे कुछ ऐसे ही तत्त्वों का वर्णन किया जाएगा।

(१) सर्वज्ञवाद—प्रगति का सबसे प्रबल बाधक सर्वज्ञवाद है। परमात्मा या किसी अन्य व्यक्ति को श्रद्धा के लिए सर्वज्ञ मानना एक बात है, किन्तु किसी पुस्तक को सर्वज्ञ की वाणी मान कर उस विषय में अंतिम शब्द मान लेना और स्वतन्त्र चिन्तन का द्वार बन्द कर देना उचित नहीं कहा जा सकता। भारत में वैदिक, जैन, बौद्ध आदि अनेक धार्मिक परम्पराएँ चलीं। अपने जन्म काल में इन्होंने स्वतन्त्र विचार को महत्त्व दिया। किन्तु कालान्तर में जाकर सवने शब्द को महत्त्व देना शुरू किया। फिर भी अवान्तर परम्पराओं का जन्म हुआ। किन्तु किसी ने शब्दों को छोड़ने का साहस नहीं किया। अपनी-अपनी धारणाओं के अनुसार शब्द के अर्थ को बदला और नई परम्परा चलाई। उन्होंने उड़ने का साहस किया किन्तु धागा बंधा रहा। उन्मुक्त विहार नहीं हो सका। प्राचीन ऋषि मुनि या पैगम्बरों ने जो कुछ कहा, उसके प्रति पूर्ण आदर रखते हुए भी स्वतन्त्र विचार किया जा सकता है। व्यक्ति को आगे बढ़ना है तो सर्वज्ञवाद के संस्कारों को छोड़ना होगा।

(२) भाग्यवाद—पुनर्जन्म को मानने वाली परम्पराओं ने संसार का नियन्त्रण करने के लिए तीन तत्वों को स्वीकार किया है। कुछ

परम्पराएँ ईश्वर और कुछ ईश्वर व अदृष्ट दोनों को नियामक मानती हैं। जैन और बौद्ध कर्म को मानते हैं। तीसरी परम्परा भाग्यवाद या नियतिवाद की रही है, प्रथम दो परम्पराओं ने पूर्वजन्म का प्रभाव स्वीकृत किया है। किन्तु व्यक्ति की स्वतन्त्रता के लिए गुंजाइश रखी है। तीसरी परम्परा यह मानती है कि जो कुछ होता है, होकर रहेगा। मनुष्य उनमें कोई परिवर्तन नहीं कर सकता। भागतीय जीवन पर तीसरी परम्परा का बहुत अधिक प्रभाव है। अनुचित रहन-सहन के कारण बीमार हो गये तो उत्तरदायित्व भाग्य या परमात्मा की मरजी पर लादा जाता है। परीक्षा में असफल हो गये, सट्टे में हार गये, दुकान में घाटा रहा या अन्य किसी प्रकार का अनिष्ट हुआ तो उसके कारणों पर न जाकर भाग्य एवं ईश्वर का सहारा अधिक लिया जाता है। यह मनोवृत्ति प्रगति में बाधक है।

(३) पारलौकिकता—धर्म जीवन के उत्थान का मार्ग है। परलोक में अधिक प्राप्त करने की इच्छा से इस जन्म में अल्प का त्याग धर्म नहीं है। ब्रह्मचर्य अपने आप में अच्छा है। किन्तु अप्सराएँ प्राप्त करने के लिए इस जन्म में मानसिक वासनाओं के अशान्त रहने पर भी कायिक सम्पर्क से दूर रहना ब्रह्मचर्य नहीं है। किन्तु धर्म ने परलोक का प्रलोभन देकर इस जन्म को सुधारने का प्रयत्न किया है। लक्ष्य ठीक रहने पर भी यह उपाय गलत है। इससे व्यक्ति के जीवन में सदाचार नहीं आता। दुराचार एवं सांसारिक भोगों की भूख बनी रहती है और वह कई प्रकार से विकृत रूप में प्रकट होती है। आवश्यकता इस बात की है कि सदाचार व्यक्ति का स्वभाव बन जाय। राजभय या परलोक में किसी सुख की आकांक्षा से प्रेरित होकर चोरी का त्याग करनेवाला ईमानदार नहीं कहा जा सकता। वास्तविक अचौर्य, प्राप्त सुख-साधनों में तृप्ति है। उससे जीवन अपने आप सुखी एवं सात्विक बनता है। इसी प्रकार परस्पर प्रेम, क्षमा, सरलता, सन्तोष आदि धर्म के अंगों से जीवन

अपने आप ऊँचा उठता है। इन गुणों को अपनाने के लिए किसी अन्य फल या प्रलोभन की आवश्यकता नहीं है। इन्हें जीवन में उतारना अपने आपमें फल है। परलोक का प्रलोभन धर्म को निर्जीव विनिमय बना देता है। उसकी आत्मा को समाप्त कर देता है।



“.....विज्ञान का कार्य है सत्य एवं छिपे हुए तत्त्वों का अन्वेषण ! और धर्म का कायं हैं विज्ञान की उपलब्धियों को मंगलमय बनाना।

किंतु धर्म ने जब विज्ञान को झूठा बताया तो विज्ञान ने धर्म की उपेक्षा करदी। परिणाम यह हुआ कि विज्ञान के बिना धर्म की नैया अन्ध विश्वासों की मंझधार में डगमगा रही है, और धर्म के अभाव में विज्ञान का देवता राक्षस बन रहा है।

धर्म को विज्ञान के साथ फिर मित्रता करनी है, और उस मित्रता के बाधक तत्त्वों को हटाकर दूर कर देना है।



आस्तिक और नास्तिक

| १६

आस्तिक और नास्तिक की परिभाषा के दो रूप हैं। पहला रूप व्यक्तिनिष्ठ (Subjective) है। अर्थात् व्यक्ति अपनी कल्पना के अनुसार धार्मिक विश्वास, समाज या राष्ट्र के आधार पर एक मर्यादा स्थिर कर लेता है। जो उस मर्यादा के अन्दर आते हैं, उन्हें आस्तिक कहता है और बाहर वालों को नास्तिक। मानवशास्त्र के अध्ययन से पता चलता है कि इस प्रकार की भावना उस समय से पाई जाती है जब धर्मसंस्था का जन्म भी नहीं हुआ था। मानव भिन्न-भिन्न टोलियों में रहता था और एक टोली दूसरी टोली को घृणा तथा द्वेष की दृष्टि से देखती थी। उन्हें परस्पर युद्ध के लिए सदा उद्यत रहना पड़ता था। इस प्रकार मनुष्य ने दूसरी जगह रहने वाले मनुष्य को भय तथा संदेह की दृष्टि से देखा और वही भावना सामूहिक घृणा का रूप धारण करती गई।

धीरे-धीरे भौगोलिक परिधियों का विस्तार होता गया और वे समुद्र, पर्वत, नदी या रेगिस्तान सरीखी किसी प्राकृतिक सीमा तक पहुंच कर अटक गई। परस्पर घृणा की भावना में भी तदनुसार परिवर्तन हुआ। उसने राष्ट्रीयता का रूप ले लिया। जब एक जगह के मूल निवासी सामूहिक रूप में प्राकृतिक सीमाओं को पार करके दूसरी ओर पहुंचे और वहाँ के मूल निवासियों को जीत कर वहीं बस गए तो उसी भावना ने वर्ण विद्वेष का रूप धारण कर लिया। परस्पर घृणा का यह स्वाभाविक परिणाम है कि व्यक्ति अपने रहन-सहन, आचार-विचार, रीति-रिवाज को दूसरे की अपेक्षा उत्कृष्ट मानता है। इसी का स्वाभाविक परिणाम धार्मिक विद्वेष है। संसार के इतिहास पर दृष्टिपात किया जाय तो इस

प्रकार का विद्वेष सभी देशों में मिलेगा । यहूदियों ने जेन्टाइल लोगों को द्वेष भावना से देखा, ग्रीस निवासियों ने वरवरों को, भारतीय आर्यों ने दास तथा म्लेच्छों को, चीनियों ने विदेशियों को । उनमें धर्म का सम्बन्ध राष्ट्रीय सीमाओं या जाति के साथ रहा है और प्रत्येक व्यक्ति जन्म के साथ ही आस्तिक या नास्तिक मान लिया गया ।

कठोपनिषद् में एक श्लोक आया है—

ये यं प्रेते विचिकित्सा मनुष्ये

अस्तीत्येके नायमस्तीति चैके

एतत्विद्या मनुशिष्टस्त्वयाऽहम्

वराणामेष वरस्तृतीयः ।

नचिकेता यमराज से तीसरे वर के रूप में पूछता है—मरने के बाद मनुष्य के विषय में विचिकित्सा चल रही है । कुछ लोग यह मानते हैं कि उसके बाद भी वह रहता है । और कुछ मानते हैं, नहीं रहता । सम्भवतया आस्तिक और नास्तिक शब्द का मूल यही श्लोक है । जो लोग मरने के बाद आत्मा का अस्तित्व मानते हैं वे आस्तिक कहे जाते हैं और जो नहीं मानते वे नास्तिक ।

पाणिनि ने भी अपनी व्याख्या इसी आधार पर की है । उसका सूत्र है—‘अस्ति नास्ति दिष्टं मतिः’ । इसकी व्याख्या करते हुए भट्टोजी दोक्षित ने लिखा है—‘अस्ति परलोक इति मतिर्यस्य स आस्तिकः । नास्ति परलोक इति मतिर्यस्य स नास्तिकः ।’ अर्थात् जो यह मानता है कि परलोक है वह आस्तिक है और जो नहीं मानता वह नास्तिक है । यहाँ परलोक का अर्थ साधारणतया स्वर्ग-नरक किया जाता है । किन्तु इसका शब्दार्थ है दूसरी दुनिया । जहाँ जीव मरकर उत्पन्न होता है ।

इन व्याख्याओं को आधार माना जाय तो केवल चार्वाक दर्शन नास्तिक की कोटि में आता है । उसी की यह मान्यता है कि शरीर के साथ ही आत्मा नष्ट हो जाती है । मरने के बाद कुछ नहीं रहता । जैन

और बौद्ध दर्शन परलोक को मानते हैं। दोनों की यह मान्यता है कि शरीर के साथ आत्मा का नाश नहीं होता। जैन दर्शन तो उसे शाश्वत मानता है। अतः इन दोनों को नास्तिक नहीं कहा जा सकता।

मनुस्मृति में एक श्लोक आया है—

यो नाधीत्य द्विजो वेदान् अन्यत्र कुरुते श्रमम् ।

स शूद्रवत् बहिष्कार्यः नास्तिको वेदनिन्दकः ॥

अर्थात् जो द्विज वेदों को बिना पढ़े अन्यत्र परिश्रम करता है। उसका शूद्र के समान बहिष्कार कर देना चाहिए। वह नास्तिक और वेद निन्दक है।

इस श्लोक के अन्तिम चरण को लेकर साधारणतया यह व्याख्या की जाती है कि जो व्यक्ति वेदों की निन्दा करता है, वह नास्तिक है। इस आधार पर जैन, बौद्ध आदि अवैदिक परम्पराओं को नास्तिक माना जाने लगा है। इसी आधार पर आस्तिक और नास्तिक दर्शनों का विभाजन किया जाता है। किन्तु यह ठीक नहीं है। प्राचीन परम्परा इस व्याख्या का समर्थन नहीं करती।

ईसाई धर्म में नास्तिक के लिए एथोस्ट (Atheist) शब्द आया है। इसका अर्थ है ईश्वर में विश्वास न करने वाला। भारत में भी इस आधार को लेकर नास्तिक शब्द की व्याख्या की जाती है और जैन बौद्ध आदि अनीश्वरवादी परम्पराओं को उस कोटि में रखने का प्रयत्न किया गया है। किन्तु इस व्याख्या को स्वीकार किया जाय तो मीमांसा एवं सांख्य दर्शन भी नास्तिक कहे जायेंगे। प्राचीन मीमांसा दर्शन कर्म को सर्वोपरि मानता है। वही अपूर्व के द्वारा जन्म जन्मान्तरों में फल देता रहता है। उस पर किसी अतीन्द्रिय शक्ति का नियन्त्रण नहीं मानता। सांख्यदर्शन भी ईश्वर को स्वीकार नहीं करता। योगदर्शन उसका प्रतिपादन ध्यान के लक्ष्य के रूप में करता है, सृष्टिकर्ता के रूप में नहीं।

कुछ लोगों की यह धारणा भी है कि जो परम्पराएँ आत्मा का अस्तित्व स्वीकार करती हैं उन्हें अनीश्वरवादी नहीं कहना चाहिए। क्योंकि आत्मा ही परमात्मा है। यहाँ एक बात विचारणीय है—कर्तृत्व के दो रूप हैं—समष्टि कर्तृत्व और व्यष्टिकर्तृत्व। समष्टि कर्तृत्व का अर्थ है समस्त विश्व का संचालन किसी एक सत्ता के हाथ में होना। व्यष्टि कर्तृत्व का अर्थ है भिन्न-भिन्न कार्यों पर भिन्न-भिन्न व्यक्तियों का नियन्त्रण। सांख्य, जैन और बौद्ध व्यष्टिवादो परम्पराएँ हैं। वहाँ प्रत्येक व्यक्ति में सीमित कर्तृत्व है। न्याय दर्शन व्यष्टि और समष्टि दोनों की पृथक् सत्ता मानता है। वेदान्त का कथन है कि वास्तव में देखा जाय तो इन दोनों में केवल शब्दों का भेद है। एक ही तत्व को हम दोनों प्रकार से प्रस्तुत कर सकते हैं। एक ही तत्व को व्यष्टि के रूप में वृक्ष कहा जाता है और समष्टि के रूप में वन। व्यष्टि के रूप में जो सिपाही है वही समष्टि के रूप में सेना है। व्यष्टि के रूप में जो बूँद है वही समष्टि के रूप में सरोवर। उसी तत्व के समष्टि रूप को ईश्वर और व्यष्टि को जीव कहा जाता है। इस व्याख्या को सामने रखा जाय तो आत्मा का अस्तित्व मानने वाला कोई दर्शन नास्तिक नहीं रहता।

इस्लाम में नास्तिक के लिए 'काफिर' शब्द है। इसका अर्थ है वह व्यक्ति जिसे कुरान में विश्वास नहीं है। इसी अविश्वास को कुफ्र कहा गया है। भारत में भी बहुत सी परम्पराएँ आगम या वेद को प्रमाण मानती हैं। इन परम्पराओं को दो भागों में विभक्त किया जा सकता है। प्रथम भाग उनका है जो शास्त्रीय आज्ञाओं को बौद्धिक पर्यालोचन से परे मानती हैं। दूसरी वे हैं जो इसकी खुली छूट देती हैं। प्रथम कोटि में मीमांसा दर्शन आता है। किन्तु उसने इसका क्षेत्र मर्यादित कर दिया। उसका कथन है कि स्वर्ग नरक आदि जो बातें अतीन्द्रिय हैं उनके सम्बन्ध में बौद्धिक पर्यालोचन नहीं करना चाहिए। वहाँ वेद की आज्ञा ही सर्वोपरि है। उसे छोड़कर अन्य बातों में पर्यालोचन किया जा सकता है।

जैन और बौद्ध परम्परा भी यह मानती है कि बहुत सी बातें शास्त्रों द्वारा जानी जाती हैं। किन्तु साथ ही बुद्धि को उनके पर्यालोचन का पूरा अधिकार है।

जैन धर्म में आस्तिक के लिए सम्यक्दृष्टि और नास्तिक के लिए मिथ्यादृष्टि शब्द आए हैं। सम्यक्दृष्टि का अर्थ है, वह व्यक्ति जो सत्य में विश्वास रखता है। वहाँ भी शास्त्र को सत्य का आधार माना है। साथ ही बुद्धिहीन विश्वास को मिथ्यात्व बताया है। जैन परम्परा तीर्थंकरों की देव के रूप में पूजा करती है। वहाँ भी उसका कथन है कि यदि उनकी पूजा वैयक्तिक अनुराग के कारण की जाती है तो यह मिथ्यात्व है। उनकी पूजा का आधार भी गुण होना चाहिए। वे वीतराग हैं, इसीलिए आदर्श हैं और इसीलिए पूजनीय हैं।

बौद्धदर्शन शास्त्र को भी प्रमाण नहीं मानता। भगवान् बुद्ध ने कहा था—‘परीक्ष्य भिक्षवो ग्राह्यम् मद्वचो न तु गौरवात्’। अर्थात् हे भिक्षुओं। मेरे वचन को भी परीक्षा करके स्वीकार करना, मेरे प्रति आदर बुद्धि के कारण नहीं।

वहाँ भी सम्यक् दृष्टि और मिथ्या दृष्टि शब्द आए हैं। उनका अर्थ है क्रमशः सत्य में विश्वास करने और न करने वाला।

भक्तिवाद का मुख्य आधार पौराणिक साहित्य है। वहाँ ईश्वर के गुणों का अतिशयोक्तिपूर्ण वर्णन मिलता है। इतना ही नहीं राम, कृष्ण आदि जिन मनुष्यों को ईश्वर का अवतार मान लिया गया उनके साथ भी अतीन्द्रिय शक्तियाँ जोड़ दी गईं। साथ ही यह भी कहा गया कि जो व्यक्ति उन अतिरंजित वर्णनों में अक्षरशः विश्वास नहीं करता, वह नास्तिक है। इस परिभाषा का साधारण वर्ग पर प्रभाव भी पड़ा। किन्तु उसे स्वस्थ प्रभाव नहीं कहा जा सकता। बुद्धिवादी वर्ग इस परिभाषा को नहीं मानता।

इस प्रकार हम देखते हैं आस्तिक और नास्तिक की परिभाषाएँ

विभिन्न क्षेत्रों में विभिन्न रूप लेती गईं। उन्होंने संगठन को बलवान बनाया, साथ ही बुद्धि को कुंठित किया। प्रेरणा प्रदान की, किन्तु उसके साथ उन्माद मिला हुआ था। विश्वास और श्रद्धा कर्तृत्व के मुख्य तत्व हैं, साथ ही बुद्धि की कुंठाएँ हैं। स्वस्थ मार्ग दोनों के बीच का है। जहाँ एक ओर प्रेरणा बनी रहता है और दूसरी ओर कुंठा समाप्त हो जाती है। यही आस्तिक और नास्तिक की स्वस्थ परिभाषा है।

“आस्तिकता का अर्थ सिर्फ इतना ही नहीं है कि ईश्वर या परलोक में विश्वास किया जाय, बल्कि अपने-आप पर विश्वास करना ही सच्ची आस्तिकता है।

जिसे हम ‘आत्म विश्वास’ या ‘आत्म-श्रद्धा’ कहते हैं वही वस्तुतः आस्तिकता है।





